आर्थिक सँगठन

समाजवाद या पूँजीवाद

" मानव समाज के उद्धार का एक मात्र उपाय
समाजवाद है "

लेखकः—
ठाकुरप्रसाद सक्सेना
बी० काम०, एल एल० बी०

१९३९

प्रथम संस्करण १०००] [मूल्य ॥|)

मुद्रक— ऐंग्लो अरेबिक प्रेस, नौबस्ता, लखनऊ ।

भारत के सर्व प्रथम समाजवादी नेता

पं० जवाहर लाल नहरू

को सेवा में सादर

समर्पित

भूमिका

—:o:—

आज पूँजीवाद प्रति क्रिया के रूप में ही जीवित रह सकता है। उसके विकृत रूप फ़ैसिज़्म और समाजवाद मे आज संघर्ष चल रहा है। इस संघर्ष के नतीजे पर संसार का भविष्य बहुत कुछ निर्भर करता है। समाजवाद आज केवल वाद बिवाद का विषय नही रह गया है। संसार के एक बड़े भूभाग में समाजवाद की स्थापना हो गई है। वहाँ समाजवाद के मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार नूतन समाज का निर्माण हो रहा है। यह प्रयोग अत्यन्त शिक्षाप्रद है। रूस ने एक नए आधार पर दुनियाँ बसाने का विराट आयोजन किया है और इस कार्य्य मे उसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। आज समाजवाद के सम्बन्ध मे बनी हुई नाना प्रकार की मिथ्या धारणाओं का सहज ही खण्डन हो जाता है। आज आप इन दो प्रकार की पद्धतियो का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते है और इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि मानव समाज के कल्याण और अभ्युदय के लिये कौन सी पद्धति श्रेयस्कर है।

प्रत्येक विवेक शील व्यक्ति को जो आज की दुनियाँ से अप-रिचित रहना नही चाहता इन दो प्रधान विचार धाराओं का अध्ययन करना चाहिए। हम एक क्रान्तिकारी युग मे रह रहे हैं। चारों ओर हमारे सामने ही बड़े २ परिवर्तन हो रहे है। दुनियाँ तेजी से बदल रही है। इस जमाने में आज के बड़े २ मसलों के प्रति उपेक्षा भाव रखना भारी पाप है। नई २ शक्तियाँ आज संसार को हिला रही हैं, हमें उनको समझने की कोशिश करना चाहिए और बुद्धि पूर्वक अपना मार्ग स्थिर करना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक मे पूँजीवाद के दोष दिखाए गए हैं और यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि पूँजीवाद की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। लेखक ने समाजवाद के सिद्धान्तों का अच्छा निरूपण किया है और यह दिखाया है कि वह समस्त साधन आज उपलब्ध हैं जिन का आश्रय लेकर हम समाजवादी सिद्धान्तो के अनुसार समाज का नया संगठन कर सकते हैं। समाजवाद के विरुद्ध जो तर्क आम तौर से पेश किए जाते हैं उनका उत्तर देने की भी चेष्टा की गई है। समाजवाद की क्या विशेषताये हैं, उसके द्वारा समाज की कैसे उन्नति हो सकती है, समाजवाद की स्थापना का प्रकार क्या है, समाजवादी संगठन का क्या रूप है, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर आपको इस पुस्तक मे मिलेगा। एक अध्याय मे लेखक ने सोवियट रूस के नवीन आर्थिक संगठन का भी वर्णन किया है।

पुस्तक प्रमाणिक ग्रन्थो की सहायता से तैयार की गई है। शैली सुगम और रोचक है। आशा है हिन्दी पाठक पुस्तक से लाभ उठावेगे।

नरेन्द्रदेव

दो शब्द

—:o:—

देश की दरिद्रता और बढ़ती हुई बेकारी के कारण आर्थिक संगठन के प्रश्नों पर बिचार करना आवश्यक हो गया है। संगठन छोटे २ देहाती धन्धों के आधार पर हो, अथवा बड़े २ कारखानों के रूप में, इन कारखानों का आधिपत्य व्यक्ति विशेष के हाथमें रहे अथवा शासन के, इन प्रश्नो पर भिन्न २ विचार प्रकट किए गए है। रूस की क्रान्ति के प्रभाव में साम्यवाद का भी प्रचार हो रहा है। अल्प शिक्षित जन-समूह के सम्मुख इन सिद्धान्तों को सरल भाषामे रखना ही इस प्रकाशन का ध्येय है।

हिन्दी भाषा में इस विषय पर पुस्तकों का अभाव देखकर और उसकी आवश्यकता अनुभव करके, अल्प योग्यता होने पर भी मैंने यह पुस्तक लिखने का साहस किया है और देश की उद्योगिक उन्नति के मूल सिद्धान्तों की मोटी २ बातें सरल उदाहरण द्वारा समझाने की चेष्टा की है। देशवासियों को इन जटिल प्रश्नों के समझने में यदि थोड़ी भी सहायता दे सका, तो अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

पुस्तक में दोष बहुत रह गए है योजना और लेखन की ये त्रुटियाँ ऐसी हैं कि यदि अधिक अवकाश मिलता और ज्यादा ध्यान दिया जा सकता तो उनमें कुछ कमी अवश्य की जा सकती थी। परन्तु काम बहुत थोड़े समय में ही करना पड़ा है। आशा है पाठक क्षमा करेंगे।

इस पुस्तक की भूमिका लिखने तथा समय २ पर उत्साह और अमूल्य परामर्श देने के लिए मै श्री आचार्य्य नरेन्द्रदेव का विशेष आभारी हूँ। लखनऊ विश्व विद्यालय के अर्थ विभाग के अध्यापक श्री शीतला प्रसादजी सक्सेना को मै हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने अधिक व्यस्त होते हुए भी इस पुस्तक की पुनरावृत्ति और संशोधन करने में विशेष सहायता दी।

ठाकुरप्रसाद सक्सेना

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ संख्या
१—पूँजीवाद और उसके दोष	...	...	१
२—समाजवाद की ओर	...	...	११
३—समाजवाद क्या है ...	...	...	२०
४—समाजवाद और साम्यवाद	...	...	२८
५—समाजवादी संगठन ...	...	...	३८
६—योजना ...	...	...	५४
७—प्रचलित समाजवादी ढंग (रूस का इतिहास)	...	...	६५
८—समाजवाद और पूँजीवाद	...	...	८०
९—उपज का बटवारा ...	...	...	८८
१०—पूँजीवाद का परिवर्तित रूप	...	...	९६
११—वर्ग अथवा श्रेणी संघर्ष	...	...	१०७
१२—बटवारे का समाजवादी ढंग	...	...	११५
१३—वर्गों का अन्त ...	...	...	१२६
१४—काम करने की प्रेरणा (पूँजीवाद)	...	...	१३६
१५—काम करने की प्रेरणा (समाजवाद)		...	१४३

—:o:—

आर्थिक संगठन

समाजवाद या पूँजीवाद

पं० जवाहरलाल नेहरू

पूँजीवाद और उसके दोष

इस समय संसार के अधिकांश देशों मे वह आर्थिक और सामाजिक संगठन प्रचलित है जो पूँजीवाद के नाम से विख्यात है। पूँजीवाद शब्द से हमारा अभिप्राय उस आर्थिक संगठन से है जिस में खेत, कारखाने और कानों का आधिपत्य एक अथवा कुछ थोड़े से धनी मनुष्यों के हाथ में रहता है, उपज के इन साधनों पर (means of productions) जो लोग काम करते हैं वे इन के मालिक नही बल्कि मजदूरी लेकर मालिकों के लाभ के लिये काम करने वाले होते हैं।

लाभ का आधार

पूँजीवादी संगठन मे लाभ की इच्छा ही समाज को चलाती है, लाभ की इच्छा ही इन मालिकों को उपज के साधनों का प्रयोग करवाने के लिये प्रोत्साहित करती है। केवल इतना ही नही वरन उपज की रोक थाम भी इसी लाभ की इच्छा के आधार पर होती है. उपज का पहिला आधार भी यही रहता है, अर्थात केवल वे ही चीजें बनाई जाती हैं जिन से लाभ हो सके। क्योंकि लाभ न देनेवाली चीजों का बनाने वाला कभी न कभी अवश्य निर्धन तथा दीवालिया हो जावेगा, उपज के साधनों का आधिपत्य खो बैठेगा और इस प्रकार उसमें स्वाधीनता पूर्वक वस्तु बनवाने की शक्ति ही न रह जावगी। दूसरे शब्दों में, पूँजीवाद में किसी वस्तु को बनाने अथवा न बनाने का प्रश्न केवल एक ही बात से होता है और वह यह कि उसके बनाने में लाभ होता है या नहीं। वस्तु की संख्या भी इसी एक आधार पर निश्चित की जाती है।

अस्तू, इस आधार पर केवल वे ही चीजें बनाई जा सकेंगी जो जनता में बिक सकें। क्योंकि उन्ही के बनाने से लाभ हो सकता है, या यों कहे मानो लाभ एक तारा है जो उपज को मांग को ओर खीचता रहता है, क्योंकि लाभ उन्ही वस्तुओं के बनाने मे है जिनकी बिक्री हो और जिनको बिक्री नही, ऐसी वस्तु बनाना स्पष्टतया लाभप्रद नही हो सकता। परन्तु वास्तव मे ऐसी स्थिति होती नही। प्रत्येक वस्तु की कुछ न कुछ माँगअवश्य होती है। किसी को कम किसी को अधिक और फिर यह माँग समय के फेर तथा अन्य कारणो से घटती बढ़ती भी रहती है।

पूँजीवाद में यह अधिक लाभप्रद होता है कि ऐसी वस्तुयें अधिक बनाई जावें जिनकी बिक्री अधिक हों, और वे कम बनाई जावें जिनकी बिक्री कम हो। इस प्रकार हमारी उपज की शक्ति बारबार लाभ की इच्छा द्वारा लगातार उन वस्तुओं को बनाने के लिये बढ़ाई जाती है जिनकी बिक्री अधिक है और इसी नियम से जिन चीजों की बिक्री कम है उनकी उपज घटा दी जाती है।

पूँजीवाद में इसी प्रकार से काम होता है। अब देखना यह है कि इस प्रकार के संगठन का चलना अच्छा है या बुरा, और यदि बुरा है तो क्यों, और उसमे क्या क्या बुराइयां हैं। साधारणतया हर एक यही मानेगा कि इस प्रकार का संगठन अवश्य अच्छा होगा और भली प्रकार चलेगा क्योंकि इसमें लाभ की इच्छा से प्रेरित उपज और बिक्री मे घनिष्ठ सम्बन्ध रक्खा जाता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि उपजाऊ शक्तियों का प्रयोग अधिक से अधिक लाभ के साथ किया गया होगा।

अनियमित पैदावार

पूँजीवाद के समर्थकों की यही दलील है। उनका कहना है कि इस प्रकार के संगठन मे वे ही वस्तुयें और सेवायें होती हैं जिनके लिये अधिक मूल्य मिलता है। अन्य चीजों की उपज नही होती। उनका तो यह दावा है कि किसी अन्य आर्थिक संगठन मे इससे अधिक इच्छित लाभदायक फल होना सम्भव ही नहीं है।

यदि उनका कहना सच हो तो फिर यह प्रश्न उठता
समाजवादी ऐसे पूँजीवाद का अन्त क्यों करना चाहत
उनका तो यह विश्वास है कि पूँजीवाद की यह प्रशंसा उपयुक्त
नहीं। वास्तव मे वे वस्तुऐं जिन्हे अधिक मनुष्य अधिकतर चाहते
है, बनाई ही नहीं जाती वरन उनके स्थान पर ऐसे पदार्थ बनाए
जाते है जिन्हे केवल मुट्ठी भर मनुष्य चाहते है। इतना ही नहीं, वरन्
ऐसे पदार्थ भी, जिनके विना सहस्रों मनुष्यों के प्रायः जीवन
तक चले जाते है, केवल थोड़े से लाभ के लोभ के कारण नही बनाए
जाते और मानव समाज का इस निर्दयता और कठोरता से नाश किया
जाता है। लाभ के आगे पूँजीवाद मे मानव समाज के हित का विचार
तथा मनुष्यता के भावो का पतन हो जाता है और मनुष्य एक निर्जीव
काठ के पुतले की भाँति केवल लाभ रूपी कड़ियों के सहारे ही काम करने
लगता है, उदाहरण के लिये, इंगलैड तथा अमेरिका ऐसे उन्नतिशाली
पूँजीवादी देशों को ही लेलीजिये। अन्य देशों की बात छोड़ दीजिये
स्वयं इन देशो के वासियो को भी रोटी, मांस, दूध, कपड़ा, तथा रहने के
लिये घर इत्यादिक आवश्यक वस्तुओं की आज भी उत्सुकता से चाह है।
ऐसे पदार्त आवश्यकतानुसार उत्पन्न हो नही किये जाते क्यों कि इनके
उत्पन्न करने मे अधिक लाभ नही होता, चाहे इनके बिना सहस्रों
देशवासियो का जीवन उत्सर्ग ही क्यो न हो जाय। इनके स्थान पर
ऐसी अनावश्यक तथा व्यर्थ की वस्तुये बनाई जाती है जिन्हे थोड़े से
धनी केवल अपने आनन्द विलास, सजधज इत्यादि के लिये चाहते
है। उनसे पूँजीपतियो को अधिक मूल्य मिलता है। जिस
समय तक लाभ के सिद्धांत पर उपज की संख्या निश्चित की
जावेगी, अनावश्यक वस्तुये बनती ही रहेगी और उसके फलस्वरूप
जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ की कमी रहेगी इसी से यह कहना
पड़ता है कि जिस संगठन का परिणाम जन साधारण के लिये
हानिकारक है, उसमे अवश्य बुराई है और वह कभी भी उचित
तथा वांछनीय नही कहा जा सकता।

इस के अतिरिक्त पूँजीवाद मे, कभी कभी ऐसे पदार्थ इतनी

अधिक संख्या में बन जाते हैं कि धनी लोगों को उन की मांग नही रहती और निर्धन उन का मूल्य दे नही पाते और यह फालतू संख्या नष्ट कर दी जाती है। कितना घोर अन्याय है कि एक ओर तो सहस्रों मनुष्य भोजन, कपड़ा, इत्यादि के अभाव से भूखे और नंगे रहे और दूसरी ओर देश की उपजाऊ शक्तियो का इस प्रकार दुरुपयोग किया जावे, और उन से उत्पन्न की गई वस्तुओं का नाश हो! क्या इस प्रकार की व्यवस्था लाभदायक कही जा सकती है? अथवा क्या ऐसा संगठन वांछनीय हो सकता है? कदापि नही।

शक्ति का अपव्यय

पूँजीवाद में इस से भी अधिक अवगुण एक यह भी है कि इस प्रकार के संगठन मे बहुत से मनुष्यो को काम करने का अवसर ही नही मिलता। वे वस्तु बना ही नही पाते और भिन्न २ उपायों द्वारा उन के काम करने मे बाधाएँ डाली जाती हैं। बड़े बड़े पूँजीवादी देशो मे यह बहुत मात्रा मे ठीक भी है वहाँ के देशवासी अपनी उपजाऊ शक्तियो का पूरा पूरा प्रयोग नहीं कर पाते। उन की यह असमर्थता की मात्रा स्थान तथा वातावरण के अनुसार न्यूनाधिक अवश्य है। उदाहरण के लिये अमेरिका ही को ले लीजिये। अमेरिका मे सन १९२९ ई० मे देश की उपजाऊ शक्तियो का अधिक से अधिक प्रयोग किया गया। सम्भवतः पूँजीवादी किसी अन्य देश में इतना प्रयोग न किया गया होगा, और यदि यह कहा जावे कि उस समय उन्होंने अपनी पूरी शक्ति का उपयोग किया तो भी अनुपयुक्त न होगा। परन्तु बहुत से अर्थशास्त्रज्ञों (economists) और संख्याशास्त्रज्ञों (statisticians) का जिन्हो ने सतर्कता से आँकडे लिये है कहना है कि उस वर्ष भी उपज की शक्तियो का केवल ८१ प्रतिशत ही उपयोग किया गया और उस के दूसरे वर्ष यह प्रयोग केवल ५.० प्रतिशत ही रह गया। बाद के वर्षो मे (अर्थात् सन् १९३०,३१, ३२,तथा३३, मे) तो इन का प्रयोग और भी कम रह गया। इन वर्षो मे अमेरिका वासी अपनी उपजाऊ शक्तियों का १९ से ५.० प्रति शत से अधिक प्रयोग नही कर पाये।

ब्रिटेन के सम्बन्ध में इस प्रकार के आँकड़े तो नहीं मिलते परन्तु वहां भी बेकारों की संख्या से ब्रिटेन की उपजाऊ शक्तियों के प्रयोग का अनुमान लग सकता है। सब बातों पर विचार करने से यह पता चलता है कि ब्रिटेन मे भी गत महा युद्ध के पश्चात कभी भी ८१ प्रतिशत से अधिक उपजाऊ शक्तियो का प्रयोग नही हुआ। यां कि वहाँ कभी ५० प्रतिशत से कम भी प्रयोग नही हुआ है, जैसा कि सन् ३१ व ३२ में अमेरिका में इस प्रकार के आँकड़ो मे दोनो देशो मे भिन्नता अवश्य मिलती हैं।

परन्तु यह बात तो विशेप महत्व की नही कि कितने सही आँकड़ों में इन शक्तियों का प्रयोग नहीं किया जा सका। महत्व की बात तो केवल इतनी है कि एक पर्याप्त सख्या मे इस प्रकार इन शक्तियो का प्रयोग नही किया जा सका और यह बात भी स्पष्ट है कि यदि इन शक्तियो का प्रयोग हुआ होता, और इतने मनुष्य तथा कल कारखाने बेकार न रहते, तो उनकी सहायता से बहुत से लोगो का मकान, खाना, कपड़ा, शिक्षा तथा औषधियो की सुविधा दी जा सकती, जिस के बिना वहां के देशवासी कष्ट उठा रहे थे।

बढ़ती हुई बेकारी

पूजीवाद मे सब से अधिक खटकने वाली वस्तु उपजाऊ शक्तियों के प्रयोग की असमर्थता है और यह असमर्थता अब इंगलैंड और अमेरिका मे बहुत बढ़ गई है। बेकारी तथा विशेप कर मजदूरों की बेकारी के रूप मे यह दिखाई पड़ती है। लाखों करोड़ों योग्य, परिश्रमी तथा काम के इच्छुक मजदूरो का इस प्रकार बेकार रहना बड़े दुःख की बात है। इस के फलस्वरूप होने वाली हानि का तो कहना ही क्या इस बेकारी से केवल यही नहीं कि वे पदार्थ जो कि यह बेकार मजदूर बना, बन नही पाते वरन इन मजदूरों का भी निर्धनता, बेकारी तथा समाजिक ग्लानि के कारण धीरे धीरे काफी ह्रास होता जाता है। यही कारण है कि अमेरिका और ब्रिटेन में इस समय भी पूँजीवाद के आधार पर उपज होते हुए भी अन्याय तथा अनुपयोग के कारण इस

प्रकार का संगठन असहनीय हो रहा है, पूँजीवाद में लाखों और करोड़ों मनुष्य न केवल थोड़े से धनी मनुष्यो की मूर्खता की माँगों को पूरा करने के लिये प्रति दिन कठिन परिश्रम ही करने हैं, वरन् किसी को भी उन वस्तुओं के बनाने को, जैसे खाना, कपड़ा, घर इत्यादि जिनकी अधिक लोगो को माँग है, पर्याप्त सुविधा नही और सब से बुरी बात तो यह है कि इस प्रकार के संगठन मे लाखो व करोड़ो मज़दूर वस्तु बनाने तथा काम करने से ही रोक दिये जाते हैं। इस आथिक संगठन की असफलता का ही यह परिणाम है कि दिन प्रति दिन निर्धनता तथा ग़रीबो बढ़ती जातो है।

जनता की दरिद्रता

विख्यात पूँजीवादी अर्थशास्त्रज्ञ जान स्टुअर्टमिल (John Stuart Mill) का स्वयं यह कहना है कि पूँजीवादी संगठन मे किसी एक मज़दूर का कामकरने का एक घंटा भी कम नही हो सका, वरन बहुत से वर्तमान पूँजीवादी देशों के लिये तो यह भी कहा जासकता है कि उन देशों की अधिकतर जनताको न तो एक गज़ कपड़ा ही अधिक मिल सका और न एक कौर रोटी ही। इस के बिपरीत इँगलैंड और अमेरिका मे, जो संसार के दो सबसे बड़े धनो व पूँजीवादो देश हैं, अधिक तर जनता निर्धन ही हो गई है।

इँगलैंड मे ही सन् १६३६ ई० मे दो तिहाई जनता की वार्षिक आय लगभग २५ पौंड प्रति मनुष्य थी। ओ. आर होलिसन (O.R. Holson) सुविख्यात अर्थशास्त्री की गणना के अनुसार जो सन् १६३४ ई० के जुलाई मासमे प्रकाशित हुई है, सम्भवतः उन लोगो के लिये जिनकी आय अधिक है यह समझना कठिन है कि इतनी कम आय मे मनुष्य को जीवन की आवश्यक समग्री प्राप्त करने मे रुकावट इत्यादि से कितना कष्ट होता है, परन्तु हम भारतवासी तो इस बात को केवल भलीभाँति समझते ही नही वरन विशेषरूप से अनुभव भी करने है। यहाँ की निर्धनता तो इस से भी अधिक है, यहाँतो अधिकतर मनुष्यों को दोनों समय खाने को पेट भर भोजन तक भी नही मिल पाता।

निर्धनता द्वारा होने वाली यह असह्य यातना अनावश्यक है और इस का निवारण हो सकता है। वास्तव में इस निर्धनता का कारण यह नही है कि आवश्यकतानुशार काम तथा पदार्थ उत्पन्न नहीं किये जा सकने, वरन प्रचलित आर्थिक संगठनकी असफलता तथा खोखलापन है, क्योंकि इस संगठन में उपजाऊ शक्तियो के एक बड़े भाग का प्रयोग ही नही होता और दूसरे भाग का इस प्रकार दुरुपयोग होता है कि उस के द्वारा सांसारिक आवश्यकताएँ अधिकतर पूरी ही नहीं की जासकती।

समाज की उत्पादन शक्ति

वास्तव में इस समय पूँजीवादी देश अमेरिका तथा इंगलैंड में भी पर्याप्त संख्या में पदार्थ उत्पन्न किये जा सकते है जिनसे वहाँ की साधारण जनता सुखी तथा प्रसन्न रह सके। इस का ठीक ठीक अनुमान ता नहीं लग सकता कि यदि अमेरिका और ब्रिटेन में उपजाऊ शक्तियों का पूरा २ प्रयोग जनता की आवश्यकताओं को उनकी माँग के अनुसार पूरा करने में लगातार किया जावे तो वहां के देशवासियों के रहन सहन में कितना अन्तर पड़ जावे गा। परन्तु यह निश्चय है कि जनता के कष्ट वहुत कुछ कम हो जावेगे। अमेरिका के सम्बन्ध मे इस विषय के आँकड़े भी मिलने हैं, वहाँ सन् १६३४ ई० में देश के कल कारखानों और खेती की उपजाऊ शक्तियों का अनुमान करने के लिये सरकार ने एक जाँच कमेटी नियक्त की थी उस की रिपोर्ट सन् १६३५ के फरवरी मास मे प्रकाशित हुई है। रिपोर्ट में कहा गया है कि यदि अमेरिका की उपजाऊ शक्तियो का पूरा पूरा प्रयोग किया जावे और उपज सब कुटुम्बो मे बराबर बाँट दी जावे तोप्रत्येक चार मनुष्यों के कुटुम्ब की आय १६२६ ई० के मूल्य के आधार पर ४४०० डालर (६१५ पौंड) प्रतिवर्ष होगी। कहाँ तक यह अनुमान ठीक है और किन परिस्थितियों मे यह सम्भव है, इसका विचार इस स्थान पर न करके हम इस अनुमान को सही मान लेते हैं क्योंकि अमेरिका के कई योग्य अर्थशास्त्रज्ञ कई महीनों के कड़े परिश्रम तथा सब आवश्यक बातों को विस्तार पूर्वक जाँच करने के

पश्चात् ही इस परिणाम पर पहुँचे हैं।

अमेरिकावासियों की आय ६९५, १००० अथवा ७०० ही पौंड हो, इससे हमे अधिक प्रयोजन नही। हमारा तो इतना ही कहना है कि इस प्रकार उन्नतिशाली देश, जैसे ब्रिटेन व अमेरिका, के वासियो को भी निस्संदेह इतनी निश्चित आय हो सकती है जब कि इन देशो में इस समय साधारणतया एक कुटुम्ब की आय ७५ से २०० पौंड तक है। अतः यह कहा जा सकता है कि उच्च कोंट के उन्नतिशाली पूँजीवादी देशों मे भी उपज की वृद्धि, समान आय की व्यवस्था, और ७५ पौंड से २०० पौंड प्रतिवर्ष आय के स्थान पर ७०० अथवा १००० पौंड आय होना अब भी सम्भव हो सकता है।

जीविका की अनिश्चित्ता

पूँजीवाद के दुरुपयोग का परिणाम केवल अनावश्यक निर्धनता ही नहीं। उपज की अधिकता से ज्यादा मनुष्यों को अपने जीवन निर्वाह की संरक्षता की इच्छा होती है। उन्हे लगातार यह भय रहता है कि उनकी वर्तमान आय कही कम अथवा नष्ट न हो जावे। कुछ थोड़े से धनी और नितान्त निर्धनो को छोड़ कर अमेरिका तथा ब्रिटैन जैसे उन्नति शाली देशों की भी अधिकांश जनता बेकारी व निर्धनता के भय से काँपा करती है। कारखानों मे साप्ताहिक वेतन पानेवाले, छोटे स्वतंत्र मालिक, जैसे किसान इत्यादि और सर्वसाधारण मजदूरों के लिये तो कम से कम यह बात समान है। इन सब को निरन्तर अपनी बेकारी का भय रहता है। वर्तमान व्यापार पद्यति मे, अचानक तथा विप्लवकारी उतार चढ़ाव होते रहते हैं, जिन से छोटे छोटे स्वतंत्र धन्धे प्रायः बिलकुल दब जाते हैं और बहुधा नष्ट भी हो जाते हैं, जिस तरह कि बड़े समुद्रों के तूफानों से छोटी छोटी नावो उलट जाती हैं। अस्तु, वर्तमान आर्थिक संगठन का परिणाम जनता के लिये अनिश्चित्ता तथा अरक्षिता होती है और इन की मात्रा प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है।

किसी मनुष्य की जीविका चली जाने से, उन्नति शाली देशों मे

उसके बाल बच्चे तुरन्त ही भूखे मरने तो नहीं लगते परन्तु उन पर काफ़ी संकट पड़ जाता है। कुछ स्वतंत्र देशों में बेकारों को रोटी कपड़े के लिये सहायता का भी प्रबन्ध है परन्तु तो भी सहायता के धन की कमी, उसके मिलने की अनिश्चितता, तथा उन शर्तों के कारण जिन पर वह मिलती है बेकारों के संकटों में कोई विशेष कमी नहीं होने पायी। वे शीघ्र मर तो नहीं जाते परन्तु उनके जीवन इतने संकटमय हो जाते हैं कि बेकारी का भय उन्हें हमेशा भूत की तरह सताता रहता है।

जीविका की लगातार चिन्ता का जनता के चित्त पर भी बुरा प्रभाव होता है। बहुत से अपने जीवन को बिल्कुल निस्सहाय तथा निरर्थक समझने लगते हैं। प्राचीन काल में जंगलों में वास करने वाले मनुष्य भी इस प्रकार अनिश्चितता और विवशता के वशी भूत नहीं होते थे! उन्हें केवल प्राकृतिक संकटों का ही भय रहता था। और वह इस प्रकार के सामाजिक संकटों से कहीं कम दुःखदाई होते थे।

परिवर्तन से लाभ

जो कुछ भी हो, यह तो सिद्ध ही है कि यदि उपजाऊ शक्तियों का पूरा पूरा प्रयोग किया जावे तो जन समाज के रहन सहन के लिये एक निश्चित व्यवस्था हो सकती है। यह भी स्पष्ट है कि उपजाऊ मशीनों को इतना सुस्त रखने तथा करोड़ों मनुष्यों को बेकार और निर्धन रखने की भी कोई आवश्यकता नहीं। इतने पर भी देश पूँजीवादी संगठन को नहीं छोड़ते।

हमारे लिये केवल यही समस्या नहीं है कि हम वर्तमान स्थिति में ही पड़े रहें अथवा उसकी उन्नति करें। सच तो यह है कि या तो उपज बढ़े और जीविका निश्चित हो नहीं तो जीविका हरण तथा निर्धनता से होने वाले कष्टों को सहें जिनके द्वारा इस समय भी बहुत

सी जीव हत्याये हो चुकीं हैं। समाज की वर्तमान बुराइयाँ पूँजीवादी संगठन के फलस्वरूप ही हैं और इस संगठन को परिवर्तित किये बिना वे दूर भी नही की जा सकती, वे दिन प्रति दिन बढ़ती ही जावेंगी। पूँजीवाद का तो स्वभाव ही यही है कि उस मे अनिश्चित्ता तथा अनावश्यक निर्धनता हो। इस से भी अधिक हानिकारक परिणाम घरेलू झगड़े और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध होता है। यह युद्ध पूँजीवाद का अनिवार्य्य फल हैं जो मानव समाज का ही नाश कर देता हैं। पूँजीवाद का तो स्वभाव ही ऐसा है। इसीलिये तो समाजवादी चाहते हैं कि इस पूँजीवादी संगठन से समाज का छुटकारा हो।

समाजवाद की ओर

पूँजीवाद और उसके दोषों से पाठक अब अनभिज्ञ नहीं इन्ही दोषों को देखकर तथा उनसे प्रभावित होकर ही जन समाज समाजवाद की ओर आकर्षित होता है ; पूँजीवाद के स्थान मे अन्य किसी दूसरे आर्थिक संगठन की खोज करता है और धीरे धीरे बिना जाने बूझे निश्चित रूप से समाजवादी संगठन की ओर खिंचता है और उसे ही अपनाने लगता है। सर्व प्रथम तो इन परिस्थितियों का प्रभाव मज़दूर तथा अन्य शोषित वर्गों पर पड़ता है और वे पूँजीवादी संगठन से उकताकर समाजवाद की ओर अग्रसर होते है। पूँजीवाद से होने वाली हानि भी सब से अधिक इसी वर्ग पर पड़ती है और वे ही ही उससे बचने के लिये सर्वप्रथम उपाय करते है। परन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं कि अच्छे वेतनवाले तथा धनी मनुष्यों पर इसका कुछ प्रभाव नही पड़ता और न वे इस पूँजीवादी संगठन से उकताते ही है। पूँजीवादी संगठन का दुःप्रभाव धीरे धीरे इन वर्गों पर भी पड़ता जाता है और वे भी इसके खोखले और जन समाज के घातक परिणामो को भली भाँति महसूस करने लगते हैं।

समाजवाद उसके उद्देश्य और कार्यक्रम आदि केवल मज़दूरों और नीची श्रेणी के वर्गो के लिये ही विचारणीय नही है वरन् उन लोगों के लिये भी है जिनकी आर्थिक स्थिति कुछ सुधरी हुई है। कुछ भाग्य शाली अल्पसंख्यक लोगों के लिये ऐसे प्रश्न, जैसे उपज लाभ के लिये हो या उपभोग के लिये, किस सिद्धांत पर आर्थिक संगठन हो भले ही

उनके व्योवहारिक जीवन से दूर प्रतीत होते हो परन्तु वास्तव में वे इतने दूर हैं नही। वस्तुतः उनका इन लोगो से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और रहना स्वाभाविक भी है क्योंकि आखिरकार समाज के वे भी तो एक अंग हैं और जब सम्पूर्ण समाज ही दुर्दशा को प्राप्त होता है तब उसका कोई अंग भी सुरक्षित रह सके, ऐसा सम्भव नही।

आधारभूत प्रश्न

परन्तु तो भी कुछ भाग्यशाली मनुष्य इन प्रश्नों को भुलाने की चेष्टा करते हैं। और सभ्य समाज के मूल भूत आधार पर ही आघात करते हैं। मनुष्य समाज मे एक अधिक संख्या की ऐसी भावना रहती है कि जो कुछ भी हो, चाहे जैसी अधूरी और अन्यायपूर्ण व्यवस्था क्यो न हो उसे वैसे ही चलना चाहिये। परिवर्तनों के वे अधिक इच्छुक नही रहते। परन्तु उन्हे समझना चाहिये कि वर्तमानसामाजिक व्यवस्था भी अपरिवर्तनशील नही और इस समय की सामाजिक लड़ाइयो मे भाग न लेकर भी हम उनसे होनेवाली हानियो से बच नही सकते, उनका शिकार बनना ही पड़ता है। वर्तमान व्यवस्था मे परिवर्तन चाहनेवालो की दशा तो वैसे ही है जैसे किसी जहाज़ मे बैठा हुआ एक यात्री जहाज के टूटने पर अपने को बचाने के लिये जहाज़ के अन्दर के अपने कमरे को बन्द कर ले और इस प्रकार समुद्र में डूबने से अपने को बचाये, परन्तु क्या वह इस प्रकार अपने को बचा सकता है! जब जहाज ही न रहेगा तो कमरा बन्द रखने से क्या लाभ? इसी प्रकार जब यह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था ही बदलने वाली है और देर या सबेर अवश्य बदलेगी ही तो ऐसी व्यवस्था मे रहनेवाला मनुष्य अपने को सुरक्षित कैसे समझ सकता है। उसे तो एक न एक दिन इन परिवर्तनो का सामना करना ही पड़ेगा फिर उनसे बचने और जी चुराने से लाभ ही क्या? ऐसी स्थिति मे तो इन प्रश्नों का खुल्लमखुल्ला सामना करना ही उत्तम होता है। ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर धनी और भाग्यशाली मनुष्य भी वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था पर गम्भीर विचार करने लगे हैं और उनमे से बहुतों को तो यह प्रतीत भी होने लगा है कि वर्तमान व्यवस्था में उन्हे

मानसिक, शारीरिक तथा आर्थिक शान्ति नहीं मिल सकती। इसके अतिरिक्त धनी लोगों मे भी कुछ ऐसे है, और सदैव रहते ही हैं, जो अधिक समय तक अपने देशवासियों के कष्टों को शान्ति पूर्वक सहन नहीं कर सकते; फिर ऐसे कष्टो को जिन्हे वे बिल्कुल अनावश्यक समझते है। यहाँ तो स्थिति थोड़ी अनोखी सी है, वर्तमान व्यवस्था से तो धनी लोगो पर भी हानिकारक प्रभाव पड़ने लगा है।

पूंजीवाद और बाबू दल

धनी लोगो के अतिरिक्त, ऐसे मनुष्यों की भी एक अधिक संख्या होती है जिनको स्थिर आमदनी रहती है। धनी तो वे नहीं कहे जा सकते परन्तु तो भी उनकी गिनती उच्च श्रेणी के लोगो के साथ ही की जा सकती है, यह लोग भी अब यह प्रतीत करने लगे है कि पूँजीवाद के कटघरे के अन्दर उन के लिये भी अब कोई विशेष रचनात्मक कार्य नहीं रहा है। अपने बाप दादो की तरह न तो वे अपने लिये ही कोई विशेष भाग्य बना सकते है और न समाज के लिये ही कोई बड़ा लाभकारी धन्धा निकाल सकते है धन कमाने के अधिकतर उपाय, वर्तमान कल कारखानों के नियंत्रण को बदलने, कम्पनियो को मिलाने, शेयर को बेचने व खरीदने इत्यादि मे ही रह गये हैं। जुआ खेलना और धोखा देना ही अधिकतर धनी लोगो के काम और धन्धे दिन प्रति दिन होते जाते है।

इसके अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्रो, लाभदायक उद्योग धन्धों और साम्राज्य शाही शासनो मे शक्ति अधिकतर मौरूसी होती जाती है, कारखानो मे डाइरेक्टरो (directers) के बेटे और दामाद या भतीजे ही उन्नतिशाली पदवी पाते है, वे ही व्यवस्थापिका सभाओ के सदस्य बनते हैं, बेङ्कों की मैनेजिङ्ग डाइरेक्टरो की कुरसियों पर बैठते हैं तथा साम्राज्याशाही शासन प्रणाली मे उच्च आसनों पर सुशोभित होते है और ज्यों ज्यो दिन बीतते जाते हैं गुण और योग्यता का सम्बन्ध इस हक से दिन प्रति दिन कम होता जाता है। योग्य, मूर्खों की सेवा करते है, अशिक्षित मूर्ख, तथा असभ्य मनुष्य आज्ञा देते हैं और

शिक्षित, योग्य और सभ्य मनुष्यों को उन्हे अन्ध विश्वास से पालन करना पड़ता है।

यह सच है कि बड़े बड़े पूँजीवादी देशों मे शासन प्रणाली में अब भी बहुत से ऊँचे ऊँचे और विशेष महत्व के पद योग्य मनुष्यों को मिल सकते हैं और बहुत से ऐसे पदों पर योग्य मनुष्य हैं भी। योग्य' कारीगर, वैज्ञानिक, डाक्टर, सिविल सर्विस के लोग, शासन तथा बड़े बड़े कारपोरेशनों मे ऊँचे ऊँचे तथा लाभदायक पदों पर रक्खे गये हैं और उनमे से बहुतसे अपने स्थानों पर संतुष्ट भी हैं और यह समझते हैं कि इन पदों द्वारा वे वास्तविक जन सेवा करके देश का कल्याण कर रहे हैं, परन्तु एक एक करके ये कर्मचारी भी धीरे धीरे इस बात को महसूस करने को विवश होते हैं कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की बरबादी, उनकी योग्यता तथा संलग्नता के कार्य, या तो उनके काम का अन्त ही कर रही है अथवा उनका बुरे कामों मे प्रयोग करा रही है।

वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति

आज कल अच्छी पदवी पर रखे गये तथा अधिक वेतन वाले आविष्कारक विशेषज्ञों के कार्य की क्षति इसका एक प्रचलित उदाहरण है। एक मनुष्य वर्षों के परिश्रम के उपरान्त एक नई कल का आविष्कार करता है जिससे १००० मजदूरों के काम से पैदा होनेवाली वस्तु केवल १०० मजदूरों के काम से बन जाती है, परन्तु ऐसा वैज्ञानिक भी अपने कठिन परिश्रम, धनव्यय और प्रयत्न के फल स्वरूप क्या देखता है कि उस कल से संसार के धन अथवा उन्नति में कोई विशेष वृद्धि नही हुई और न स्वयं वह कल ही उस में कुछ बढ़ती कर सकी, वरन् उसके ६०० भाई और सहकारी देशवासी बेकारी और बरबादी के गड्ढे में फ़ेक दिये गये। इंजीनियर की भी ठीक ऐसी ही दशा होती है। वह एक नई तदबीर सोचता है जिससे उपज मे वृद्धि हो सकती है अथवा उपज का व्यय कम करके धन्धे से लाभ बढ़ा सकती

है, वह उसे बाजार में ले जाता है ताकि अपने इस आविष्कार के लिए अच्छा मूल्य पा सके और ऐसे ग्राहक को पावे जो वास्तव में उस का ठीक ठीक प्रयोग कर सके। परन्तु प्रायः ऐसा देखा गया है कि उस को वह तदबीर एक बड़ा ट्रस्ट मोल ले लेता है इस कारण से नहीं कि उसका प्रयोग करके संसार को लाभ पँहुचावे वरन् इसलिए कि उस तदबीर के प्रयोग को रोक सके और इस प्रकार वर्तमान कल और कारखानो को मशीनों को बेकार होने से बचा सके। इससे भी अधिक जँचनेवाला उदाहरण औषधियाँ बनाने वाले तथा हकीमों का है। आज कल उनका काम अधिकतर प्राण लेने तथा प्राण लेने की विद्या को पूर्ण बनाने का होता है। भ्रूणहत्या, नवजात शिशु का प्राणान्त, विवाहित जीवन मे अनमेल दम्पति की आत्महत्या इत्यादि कामों में उन की ओषधियों का अधिक प्रयोग होता है।

यही स्थिति दूसरे धन्धों की है। ऐसा सम्भव है किसी किसी धन्धे पर, किन्ही कारणों से इन सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव कम पड़े। कुछ स्थानो पर और किसी किसी समय में कोई कोई धन्धे अब भी उन्नति पर है। उदाहरणार्थ पूँजीवादी ब्रिटेन के कारीगर बहुत दिनों बेकारी के पश्चात सन् १६३६ ई० मे फिर अधिकतर काम पर लग गये थे परन्तु उस समय काम में लगे रहने पर भी कभी कभी उन्हे यह देखकर अपने कामो से घृणा हो जाती थी कि उन का कैसा घृणित उपयोग किया जाता है। अमेरिका में भी कारीगरों को पहले कुछ समय तक तो संतोष रहा जिस समय उन्होंने देश के लिये बड़ी बड़ी गगनचुम्बी अट्टालिकायें बना बनाकर देश की एक बड़ी समस्या को सुलझाया परन्तु वास्तव में मकान तो रहने अथवा काम करने के लिये ही बनाये जाते हैं और यदि इस प्रकार बने हुए मकान खाली पड़े रहे और उनमें कोई रहे ही नहीं, तब तो उनके बनाने वाले अवश्य निराश तथा हताहत होंगे। पिछले वर्षों का उनका ऐसा ही अनुभव है कि निर्धनता के कारण मनुष्य खुले मैदानों और पेड़ों के नीचे तथा आम सड़कों और रास्तों पर सोते हैं और कारीगरों के बनाये हुए मकान खाली पड़े रहते हैं। इन बातों का उन पर भी काफ़ी प्रभाव

पड़ता है और वे भी इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि हो न हो इस आर्थिक व्यवस्था मे ही कुछ बुराई है और इसके परिवर्तन किये विना जिस लाभ को वे कामना करते हैं उसे वे प्राप्त नही कर सकते।

शिक्षकों की स्थिति

बुद्धि तथा मस्तिष्क से काम करनेवाले मनुष्यो मे अध्यापकों की एक बड़ी संख्या है। अपनी भक्ति और उत्साह के कारण वे अपने काम को, सामाजिक महत्व का समझते हैं और बहुतों का तो ऐसा विचार है कि वे इस प्रकार शिक्षा देकर समाज की भलाई करते हैं तथा उसे आगे बढ़ाने मे सहायक है और इन्ही विचारो से वे अपने काम से संतुष्ट भी रहते हैं। किन्ही मानों मे उनका ऐसा विचार सही भी है। किसी भी देश की उन्नति के लिए शिक्षा और शिक्षकों की विशेष आवश्यकता है। परन्तु सन् १६३६ ई० मे ब्रिटैन में होनेवाली कान्फरेन्सों में लगभग प्रत्येक अध्यापक ने वार वार इस बात की सूचना दी कि उनके शिष्यों को इतना कम भोजन मिलता है कि वे अधिक पढ़ ही नहीं सकते। अमेरिका ऐसे उन्नतिशाली पूँजीवादी देश मे बड़े बड़े शहरों मे भी अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही भूखे रहते हैं। उन्हे आवश्यकतानुसार भोजन ही नही मिल पाता है, पौष्टिक पदार्थों का तो कहना ही क्या? अमेरिका के शिकागो (Chicago) ऐसे बड़े शहर में भी अध्यापकों को महीनों तक वेतन ही नही मिल पाता। इस प्रकार अध्यापकों को भी यह आवश्यक प्रतीत होता है कि आर्थिक संगठन इस प्रकार का होना चाहिए कि उसमे बच्चो के मस्तिष्क भूख से निर्बल और शक्तिहीन न रहे, तभी वास्तविक शिक्षा भी दी जा सकती है। सबसे पहले सीखने और सिखाने की वस्तु भी यही है।

अन्य धन्धे

एक दो धन्धों मे भले ही योग्य और अनुभवी मनुष्य थोड़ी पूंजी से स्वतंत्र रहकर अपने जीवन का निर्वाह कर सके परन्तु अधिकतर धन्धों मे स्वतंत्रता का प्रायः ह्रास हो गया है और उनके

स्थान पर संघ (trusts) इत्यादि बन गये हैं जिससे व्यक्तिगत सफलता प्राप्त करना दुर्लभ नहीं तो कठिन अवश्य है। ऐसा है कि बड़े बड़े बैंकों, कल कारख़ानों, समाचारपत्रों तथा पुस्तक प्रकाशन इत्यादि धन्धों में इस समय भी नवयुवकों को अच्छे अच्छे पद मिल जाते हैं, परन्तु यह पद प्रथम तो नीची श्रेणी के होते है दूसरे इन पदों के द्वारा वास्तविक उन्नति नही की जा सकती, क्यों कि इन कल कारखानों का स्वामित्व तथा आधिपत्य धनी कुटुम्बों में मौरूसी हक़ के रूप में ही है और अच्छे वेतनवाले नौकर भी इन कल कारखानों के बड़े बड़े तथा सैद्धान्तिक विषयों मे मालिकों से प्रश्न तक नहीं कर सकने, उनमें परिवर्तन कराना तो दूर की बात है। यदि यह मालिक पूर्णरूप से पूँजीवादी अथवा समाजविरोधी हैं तब तो अच्छे वेतन पानेवाले नौकर भी उतने ही विवश रहेंगे जितना कि निम्न श्रेणी का एक साधारण मज़दूर। विप्लवकारी संशोधनों तथा परिवर्तनों के लिये तो एक प्रकार की बड़ी मज़बूत दीवार सी ही खड़ी रहती है।

शासन के उच्च अधिकारी तथा आफ़िसरों का भी एक बड़ा दल है जो अच्छा वेतन पाते हैं। इन आफिसरों का प्रायः यह विचार होता है कि सम्भवतः वे समाज की सच्ची सेवा कर रहे हैं। बैकारी, रोग तथा अन्य इसी प्रकार की बीमा इत्यादि की योजना रखनेवाले तथा उन्हे कार्यान्वित करने वाले भी यह समझने लगते हैं कि उन्होंने अनेकों ज़िलों तथा असंख्यों बैकारों और रोगियों को बरबादी से रक्षा की; परन्तु अन्त में उन्हे भी मानना ही पड़ता है कि इस आर्थिक संगठन के ही कारण यह सारी बैकारी और रुग्णावस्था है जिसे दूर करने के लिये उन्होंने इतने प्रयत्न किये हैं, और दिन प्रति दिन करते हैं तथा इस बैकारी और रुग्णावस्था को दूर करने के लिये ही यह आवश्यक है कि इस प्रकार का संगठन ही बदला जावे और उसके स्थान में ऐसा सगठन क़ायम हो जो इन बुराइयों का अन्त ही कर दे।

साम्राज्यशाही शासनप्रणाली के चलाने वाले बड़े हाकिम तथा

शासक, बड़े परिश्रम से देश मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने की चेष्टा करते हैं और किसी हद तक करते भी हैं और यह समझते हैं कि सम्भवतः इससे वे देश की एक बड़ी सेवा कर रहे हैं। बहुत से भारतीय सिवल सर्विस के सदस्य अपने इस प्रकार के कार्यों से काफ़ी सन्तुष्ट रहते है और अपने जीवन को सफल मानते हैं। परन्तु क्या वे इस समय तक यह समझ नही सके हैं उनके इन सब कामों का परिणाम भारतीय जनता के लिये, लगातार रक्तशोषण और रहन सहन में निरन्तर कमी ही हुई है? शान्ति स्थपित करने की चेष्टा मे वे उन भावों को ही कुचलने पर उतारू होजाते है जिनके जीवन और प्रोत्साहन से ही देश का वास्तविक कल्याण हो सकता है। दूसरे शब्दों मे उनकी शान्तिस्थापना की चेष्टा का परिणाम भारत का आर्थिक शोषण उसके उद्योग धन्धों का ह्रास तथा नाश, उसकी स्वतंत्रा का अपहरण और खुले शब्दों मे परतंत्रता की बेड़ियों मे अधिक पुष्टता के साथ जकड़ जाना ही हुआ है। वे भी अब यह समझने लगे हैं कि इस प्रकार शान्ति स्थापना से वास्तविक शान्ति नही हो सकती। जिस समय तक एक देश अथवा जाति दूसरे देश अथवा जाति पर अपना प्रभुत्व कायम किये हुए रहता है और उसे लगातार रखना चाहता है, कभी भी वास्तविक शान्ति नहीं हो सकती। शान्ति स्थापन के लिये सर्वप्रथम आवश्यकता हैं स्वतंत्रता की; न केवल राजनीतिक, वरन आर्थिक और सामाजिक भी। प्रत्येक देश को अपनी आवश्यकतानुसार और परिस्थियों के अनुकूल अपने उद्योग धन्धों के जीवन तथा उन्नति करने का अधिकार हो। इन बातों के बिना शान्ति की पुकार केवल ढोंग ही है।

वास्तव में पूँजीवादी व्यवस्था में प्रायः सभी मस्तिष्क से काम करने वालों के कार्य व्यर्थ हो जाते हैं। समाज की सीमाएँ संकीर्ण होती हैं, रचनात्मक कार्यों के लिए अवकाश कम मिलते है और समाज में बरबादी के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। वर्तमान समाज मे भी इस प्रकार के चिह्न दिखायी देने लगे हैं। जिन लोगों ने इनको देख पाया है उनसे हमारा केवल यही कहना है कि वे उस समय तक शान्ति

से न बैठें जब तक कि इस नाश के कारणों को जानकर उनके उपायों का प्रयोग करके उन्हें दूर न कर दें।

जो लोग अपने काम को इस आर्थिक संगठन में अब भी लाभदायक और समाज के लिए कल्याणकारी समझते है उनके लिए हमारी यही चेतावनी है कि एक न एक दिन उन्हे भी अपने काम में सामाजिक विनाश के चिह्न दिखायी पड़ेंगे और वह दिन अब दूर नहीं है। भले ही वे अभी हमारी बात न मानें, परन्तु स्वयं उनका ही अनुभव उन्हे यह स्वीकार करने का विवश करेगा।

इन सबसे भी अधिक और विशेष डरावनी बात तो युद्ध की निरन्तर आशंका है जो पूँजीवाद का स्वाभाविक आवश्यक परिणाम है। युद्ध छिड़ जाने से सब रचनात्मक कार्य स्वयं ही रुक जाते है। उपज के साधनों का युद्ध सम्बन्धी सामग्रियाँ बनाने में अधिकतर व्यय होता है और उन्ही के द्वारा, बड़े बड़े शहर, थोड़े ही समय मे इस प्रकार नष्ट कर दिये जाते है कि बहुतों को तो पहचान भी नहीं रह जाती। आखिरकार शहरो की सजावट, मकान इत्यादि, सब व्यर्थ ही तो होंगे यदि उन्हे एक दिन बम, तोपो तथा अन्य विषैली गैसो से गिरना और नाश होना ही है। इस प्रकार के संगठन और ऐसी व्यवस्था से प्रयोजन ही क्या ? क्यों न इसके स्थान मे ऐसे संगठन की व्यवस्था की जावे जो पूँजीवाद के पजे से छुटाकर समाज को रचनात्मक कार्य करने, और सम्पूर्ण समाज के रहन सहन मे वृद्धि तथा उन्नति करने में समर्थ हों।

दूसरे शब्दो में पूँजीवादी संगठन के स्थान में समाजवादी संगठन ही क्यों न स्थापित किया जावे।

समाजवाद क्या है ?

वर्तमान समय मे समाजवाद अथवा साम्यवाद की वहुत चर्चा है। न केवल भारतवर्ष में ही, वरन् सारे संसार मे इसीकी पुकार है। भिन्न-भन्न देशो मे इसी आशय के राजनैतिक दल बन रहे हैं, और उनका निरन्तर यही प्रयत्न रहता है कि पूँजीवादी संगठन का अन्त करके उसके स्थान मे समाजवादी अथवा साम्वादी ऐसा कोई संगठन स्थापित हो। प्रख्यात पूँजीवादी देश (इङ्गलैण्ड, अमेरिका) इत्यादि मे भी इस प्रकार के आन्दोलन हुए हैं और अब भी हो रहे हैं। वास्तव मे संसार में समाजवाद की एक लहर-सी चल रही है, और लगभग सभी देशों में कुछ-न-कुछ इस ओर काम हो रहा है बरन दिन-प्रति-दिन उसकी उन्नति ही होती जाती है।

प्रारम्भ में साम्यवाद अथवा समाजवाद केवल एक सिद्धान्तप्राय ही था। उसका स्पष्ट रूप जानना असम्भवसा प्रतीत होता था। उस समय वह केवल वर्तमान प्रणाली के दोषों को बतानेवाला तथा भविष्य मे होनेवाले अथवा इच्छित सुधारों का द्योतक था। उन दिनों प्रचलित पूँजीवाद की बुराइयाँ ही बताई जाती थीं, और उन्ही के आधारपर भविष्य के लिए सुधार बताकर नये आर्थिक संगठन की चर्चा मात्र की जाती थी।

परन्तु इस समय संसार के पंचमांश मे साम्यवादी शासन स्थापित है, और व्यवहारिक रूप मे चल रहा है। इसी कारण साम्यवाद अथवा समाजवाद आज अधिक निश्चित, स्पष्ट तथा व्यावहारिक रूप में समझा जा सकता है। साम्यवाद की प्रगति, उसकी उन्नति आज

प्रत्यक्ष है। गत वर्षों में प्रायः यह कहा जाता था कि साम्यवाद तो एक असम्भव-सी वस्तु है और शायद इस प्रकार का शासन कभी सफल शासन हो ही नहीं सकेगा। बहुत से लोग इस प्रकार के संगठन का होना एक स्वर्गीय स्वप्न समझते थे, और ऐसे विचारों का उनके लिए कोई महत्व ही न था। जब कभी भी कोई लेखक समाजवादी संगठन की चर्चा करता, वे उसे आदर्शवादी, दूरदशितापूर्ण संगठन का स्वप्न देखनेवाला आदि नाम देकर हँसा करते थे; परन्तु इस समय तो 'प्रत्यक्ष कि प्रमाणम्' की लोकोक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है। अब तो प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रही। आज तो संसार इस बात को भली भाँति जानता है कि साम्यवादी व्यवस्था हो सकती है। यही नहीं उसने तो स्वयं अपने जीवन मे ऐसी व्यवस्था चलते देख ली है।

परन्तु ऐसा होते हुए भी, आज भी संसार के ⅚ भाग में पूँजीवादी संगठन ही प्रचलित है। एक पर्याप्त संख्या में लोग अब भी इस भ्रममें हैं कि साम्यवाद ऐसी कोई वस्तु संसार-भर मे स्थापित हो सकती है! उनका अब भी ऐसा खयाल है कि भले ही एक देश में ऐसी व्यवस्था चल गई हो; परन्तु सब देशों में ऐसा हो सके, अथवा सम्पूर्ण संसार में समाजवादी संगठन हो, यह सम्भव नहीं। भिन्न-भिन्न देशों की भिन्न भिन्न स्थिति और वातावरण का इस सम्बन्ध में वे प्रायः उल्लेख किया करते हैं, और इस तरह की बातों से समाज को समाजवादी संगठन के सम्बन्ध में भ्रमित कर देते हैं, इसी लिए संसार के एक बड़े भाग में प्रत्यक्ष समाजवादी अथवा साम्यवादी शासन रहते हुए भी इस बात की विशेष आवश्यकता है कि समाजवाद या साम्यवाद के उद्देश्य, उसके सिद्धान्त और कार्यक्रम को फिर से दोहराया जाय।

प्राचीन इतिहास

संसार के भिन्न-भिन्न भागों में मजदूर तथा शोषित वर्ग के आधार पर वर्षों आन्दोलन चले हैं। प्रायः इन सभी आन्दोलनों का उद्देश्य पूँजीवाद का अन्त करके समाजवाद स्थापित करना रहा है, इन आन्दोलनों में साम्यवादी साहित्य और अनुभव की कभी कभी नहीं

रही, परन्तु तो भी गत शताब्दी की कुछ ऐसी बातों के कारण इस प्रकार की भावना पैदा नही की जा सकी कि संसार के दुःखों को दूर करने का एकमात्र उपाय समाजवाद अथवा साम्यवाद ही है।

सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि कुछ पुराने शक्तिशाली समाजवादी आन्दोलन आज भी भ्रम मे पड़े हुए हैं। वे सही रास्ते को भूल गये हैं, और इस प्रकार जनता को समाजवादी परिवर्तनो की आवश्यकता समझाने मे असमर्थ हैं। क्या कारण है कि वे इस प्रकार भ्रम मे पड़ गये, इसे विस्तार पूर्वक यहाँ बताना सम्भव नही, परन्तु तो भी किन्ही देशो के सम्बन्ध मे इन कारणों पर थोड़ा प्रकाश डाला जा सकता है। पूँजीवादी देशो मे इंगलैंड और अमेरिका विशेष तया प्रमुख है, और वास्तव मे इन्ही देशो के आन्दोलनों के सिंहावलोकन से इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश पड़ सकता है।

ब्रिटेन के सम्बन्ध मे इन कारणों का समझना अधिक कठिन नहीं है। ब्रिटेन के मज़दूर और समाजवादी आन्दोलनों को पहिले १५ वर्षों मे कई बार हार सहनी पड़ी है। वे समाजवादी उद्देशो तथा उसे प्राप्त करने के उपायो और साधनों को पूरी तरह से समझ नहीं सके थे। अपने उद्देशो को प्राप्त करने के लिए ठीक रास्ते पर न चल कर उन्होने ऐसा मार्ग निर्धारित किया, जो उन्हे समाजवाद की ओर ले जाने वाला नथा। इसी कारण उन्हे थोड़े समय के लिए हार खानी पड़ी। हार का असर बहुत दिनो तक नही रहा, परन्तु तो भी उसने आन्दोलनो को कुछ वर्षो के लिए पीछे अवश्य धकेल दिया। पूँजीवाद के विरुद्ध मज़दूर आन्दोलन की पहली लहर सन् १८४२ मे चारटिस्ट आन्दोलन मे दिखाई दी थी, और उसके पश्चात आन्दोलन लगभग ५० वर्ष पीछे हट गया। सन् १६३१ एवं १६३६ मे फिर मज़दूर-आन्दोलन को हार सहनी पड़ी। इससे भी संगठन को कुछ धक्का पहुँचा। परन्तु इन पराजयो से भी आन्दोलन बिलकुल समाप्त नहीं हो गया और न हो ही सकता है। ब्रिटिश पूँजीवाद के विरुद्ध मजदूर-आन्दोलनका विरोध अब भी है और दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जाता है।

गत पांच वर्षों में ब्रिटेन में पुस्तकों एवं समाचार-पत्रो में मज़दूर आन्दोलन का स्पष्टीकरण एवं मज़दूरों में उच्च श्रेणी की जाग्रति पैदा करने के लिए क़ाफ़ी साहित्य निकला है। यह साहित्य इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि ब्रिटेन मे गत १५ वर्षों का कार्य व्यर्थ नही रहा। नवीन जाग्रति से ब्रिटिश मज़दूर भी अब यह समझने लगे है कि उनका उद्धार समाजवाद हो में हैं।

परन्तु आज भी ब्रिटेन मे इस बात को विशेष आवश्यकता है कि आन्दोलन के नेता और मज़दूर-दल का प्रत्येक कार्यशील सदस्य आन्दोलन के उद्देश्य, कार्यक्रम तथा उसके साधनों को भली भांति समझ ले। वास्तव मे आन्दोलन की सफलता इसी पर निर्भर है। उन्हे यह भी समझना चाहिए कि वर्तमान राजनैतिक लड़ाइयो में नये सिद्धान्तों और उपायो के प्रयोग भी आवश्यक है। यह केवल इसीलिये नही कि पुराने उपाय अपर्याप्त सिद्ध हुए हैं, वरन् इसलिए भी कि मज़दूर-आन्दोलन की लहर ऐसी परिस्थितियों में बढ़ रही है, जो पुराने आन्दोलनो से अधिक गम्भोर तथा विप्लवकारी है।

अमेरिका में मज़दूर-आन्दोलन

अमेरिका की स्थिति इससे भिन्न है। वहाँ पूँजीवाद का अन्त और समाजवाद की स्थापना करनेवाले मज़दूर-आन्दोलन का जन्म देनेवाली आर्थिक और सामाजिक शक्तियाँ सन् १६२६ के आर्थिक संकट (crisis) से हो प्रौढ़ हो सकी है। मज़दूर-आन्दोलन को नींव पड़ चुकी है। इसमें कोई संदेह नही कि अमेरिका में भी शीघ्र ही एक शक्तिशाली मज़दूर-आन्दोलन हो जायगा, जो पूँजीवाद का विरोध करके समाजवादी संगठन को पुष्ट करेगा। किसी आन्दोलन की सफलता अथवा असफलता उसके गुण और स्वभाव पर निर्भर रहती है, इसीलिए यह आवश्यक है कि ब्रिटेन से अधिक अमेरिका में समाजवादो सिद्धान्त, उसकी व्याख्या परिभाषा तथा उसे स्थापित करने के उपाय और साधनों का स्पष्टतया प्रचार हो, ताकि आन्दोलन ठीक मार्ग पर चलकर

अपने उद्देश्य को शीघ्र ही प्राप्त कर सके।

भारत की स्थिति

जब ब्रिटेन और अमेरिका ऐसे स्वतन्त्र, सभ्य और शिक्षित देशों के लिए यह आवश्यक है कि समाजवाद और साम्यवाद के सिद्धान्त की व्याख्या और परिभाषा की जाय, उसे स्थापित करने के उपाय और साधनों को समझाया जाय और उसके उद्देश्यों का भली भाँति प्रचार हो, तो भारतवर्ष का तो कहना ही क्या है। यहाँ तो इस प्रकार का कार्य अनिवार्य ही है।

देश परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा है। लगभग ९० प्रतिशत देशवासी अशिक्षित हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन भलीभाँति विस्तृत नहीं है। ऐसी दशामें देश के शोषित वर्गों का संगठन, उनके आन्दोलन को प्रोत्साहन, देश के कल्याण के लिए एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु हो जाती है। वास्तव मे राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता भी बहुत कुछ इस संगठन पर ही निर्भर है।

प्रायः यह कहा जाता है कि परतन्त्र देशों में समाजवाद इत्यादि वर्ग-संघर्ष की बात न उठाकर संयुक्त साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन पर ही देश की सम्पूर्ण शक्तियों का प्रयोग होना चाहिए। कुछ लोग तो यहाँ तक भी कहने लगे हैं कि इस प्रकार का वर्ग-संगठन राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए घातक सिद्ध होगा। वे इस प्रकार के संगठन के स्थान पर सहयोग तथा सद्भावना की नीति बरतने का आदेश देते हैं; परन्तु वास्तव मे बात ऐसी नही है। समाज में वर्ग तो उपस्थित ही हैं, और उनमे परस्पर संघर्ष हो है। असंगठित होने के कारण शोषित-वर्ग धन तथा प्रभुत्व के बल से दबा दिया गया है। तथा उनके दिन-प्रति-दिन के आर्थिक संकटों से निरन्तर लाभ उठाया गया है। पूँजीपति तथा इस प्रकार के अन्य लोग वास्तव मे यह संगठन इसी कारण रोकना चाहते हैं कि संगठित हो जाने पर वे इन अशिक्षित और निर्धन

मजदूरों तथा अन्य शोषित-वर्गों का शोषण न कर सकेंगे। साफ़-साफ़ तो वे ऐसा कह नहीं पाते और न इस प्रकार कहना उन्हें लाभदायक ही हो सकता है। बस, सिद्धान्त सद्भावना इत्यादिक शुभ शब्दों का बहाना लेकर इस प्रकार बेचारे अज्ञान अशिक्षित मजदूरों और किसानों को भ्रम में डालना चाहते हैं। साम्राज्यवाद का विरोध करने के लिए इन शक्तियों का संगठन ही विशेष आवश्यक है। वास्तव में देश के लिए लड़नेवाला यही वर्ग है। थोड़े से पूँजीपति और मध्य-श्रेणी के लोग न अधिक लड़ ही सकते हैं और न उनको संख्या ही पर्याप्त है। मजदूर किसान तथा अन्य शोषित-वर्गों मे जन-संख्या अधिक है। लड़नेवालीं वेही वास्तविक शक्तियाँ हैं। उनके संगठित हो जाने से ही परतन्त्र देश अपनी स्वतन्त्रता के युद्धों में विशेष वेग के साथ अग्रसर होसकता है। स्वाधीन देशोंमें भी स्वतन्त्रता प्राप्त करने में इन्हीं वर्गों का मुख्यतया हाथ रहा है। इनका संगठन तो आवश्यक है ही साथ ही आन्दोलन के प्रमुख तथा कार्यशील सदस्यों को उसके सिद्धान्त, उद्देश्य उसे प्राप्त करने के उपाय तथा साधन भलीभाँति समझ लेना चाहिए। जब तक वे मज़दूर आन्दोलन के उद्देश्य तथा उससे होनेवाले परिणामों को भली प्रकार समझ नहीं लेते, न तो आन्दोलन ही ठीक प्रकार से चल सकता है और न सफलता ही मिल सकती है।

इसी कारण सर्वप्रथम साम्यवाद तथा समाजवाद शब्दों की परिभाषा करना आवश्यक है किन-किन अर्थों में इनका प्रयोग होता है और संगठन की मुख्य-मुख्य बातें क्या हैं। बहुत से लोग इन बातों से परिचित नहीं। गत शताब्दी में इन शब्दों का बड़ी लापरवाही से प्रयोग हुआ है। मार्क्स (Marx) और एनजिल्स (Engels) ऐसे लेखकों तक ने इनके प्रयोग में असतर्कता से काम लिया है। सन् १९१७ तक स्वयं लेनिन (Lenin) भी अपने को समाजवादी अथवा सोशल डिमाक्रेट (Social Democrat) ही कहता रहा है। सन् १९१७ के अप्रैल मास में ही प्रथम बार उसने अपने दल का नाम परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया था। इसके पूर्व दल के नाम इत्यादि की ओर उसका विशेष ध्यान नहीं गया था। इस समय पहली बार

उसने दल की बैठक में कहा—"हमको अब अपने दल के नाम पर भी विचार करना चाहिए। हम अब अपने को साम्यवादी कहें, जिस प्रकार मार्क्स और इन्जिलस अपने को साम्यवादी कहते हैं। मनुष्य-समाज पूँजीवाद से सीधे समाजवाद मे जा सकता है। पूँजीवाद का अन्त करके तुरन्त ही उसके स्थान मे समाजवाद स्थापित हो सकता है। इन दोनों के बीच किसी अन्य प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता नही।

समाजवाद

समाजवादी व्यवस्था का अर्थ ऐसे आर्थिक सगठन से है, जिसमें उपज के साधनों पर समाज का अधिपत्य हो और प्रत्येक मनुष्य को अपने-अपने काम के अनुसार उपज बाँटी जाय। दूसरे शब्दों मे इस प्रकार के संगठन मे देश की उपजाऊ शक्तियों का प्रयोग एक केन्द्रीय योजना-समिति द्वारा निश्चित होता है। उपज के आवश्यक आँकड़े लेकर वस्तु की माँग, उसकी उपयोगिता तथा देश की उन्नति का विचार रखकर वे ही निश्चित कर देते हैं कि कौन-कौन से पदार्थ किन-किन संख्याओं में बनाये जायँ, किसी व्यक्ति विशेष अथवा एक दल-समुदाय को उपज निश्चित करने का अधिकार नहीं रहता। वास्तव मे ऐसे संगठन मे पूँजी अथवा उपज के साधन व्यक्ति विशेष के हाथों मे रहते ही नही। प्रायः उन सब पर ही शासन का आधिपत्य रहता है, और उन्ही के द्वारा उनका प्रयोग भी निश्चित होता है।

समाजवाद और साम्यवाद में अन्तर बताते हुए लेनिन का यह भी कहना था कि उनका दल समाजवाद से भी आगे जाने को है। समाजवाद एक-न-एक दिन वर्गवाद मे अवश्य परिणत हो जायगा और उसका उद्देश्य होगा—प्रत्येक मनुष्य से उसकी शक्ति के अनुसार काम लेना और प्रत्येक मनुष्य को उसकी आवश्यकता के अनुसार उपज का भाग देना।

समाजवाद और साम्यवाद की परिभाषा तथा इनमें परस्पर अन्तर विस्तार पूर्वक तो अगले परिच्छेद में दिया जावेगा। यहाँ पर तो

इतना ही कहना है कि समाजवादी और साम्यवादी दोनों ही पूँजीवाद का अन्त करके समाजवाद ऐसी व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, भले ही उनके उद्देश्यों और उपायो में थोड़ी बहुत भिन्नता हो। उद्देश्य के प्राप्त करने के साधनों में भी उनमें मतभेद रह सकता है। और प्रत्येक आन्दोलन में थोड़ा-बहुत मतभेद रहता भी है। समाजवादी आन्दोलन में तो विशेष करके नीति तथा संगठन के विषय पर काफ़ी मतभेद है। किन उपायों से तथा किस प्रकार के संगठन से पूँजीवाद के स्थान मे समाजवाद स्थापित हो सकता है, यह भी विचारणीय विषय है। परन्तु यह बात तो निश्चित ही है कि किसी भी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके कार्यशील सदस्य उसके उद्देश्य, साधन तथा उपायो को ठीक तरह से समझ लें। ऐसा न होने से कोई भी आन्दोलन कदापि सफल नहीं हो सकता।

समाजवाद और साम्यवाद

प्रगतिशील आर्थिक संगठनो मे दो संगठन प्रमुख हैं समाजवाद और साम्यवाद। समाजवाद से अभिप्राय उस संगठन से है जिसमे उपज एक निश्चित योजना के आधार पर होती है और उसका बँटवारा मनुष्यों मे उनके काम और उनके गुण के अनुपात से रहता है साम्यवादी संगठन मे अन्तर केवल इतना है कि उसमे उपज एक निश्चित योजना के अनुसार तो अवश्य होती है परन्तु बंटवारा, काम के गुण और संख्या के आधार पर न होकर मनुष्यों की आवश्यकता के आधार पर होता है और प्रत्येक मनुष्य को अपनी योग्यता भर काम करना पड़ता है।

समान वेतन

इस प्रकार समाजवाद मे श्रेणी और वर्ग का तो अन्त हो जाता है परन्तु आय मे समानता नहीं हो पाती। भिन्न २ मजदूरों की आय उनके काम और गुण के अनुसार भिन्न रहती हैं। मनुष्यों के रहन सहन व आय मे भिन्नता का कारण भी यही है। कोई एक निश्चित वेतन नही जो प्रत्येक मनुष्य को अवश्य दे दिया जावे। सम्भवतः ऐसा हो नही सकता है। समान वेतन की रकम निश्चित करने मे काफ़ी कठिनाइयो का सामना भी करना भी पड़ेगा। दूसरे यदि भिन्न २ प्रकार के मजदूरो को समान वेतन देने की योजना कीजावे, तो न्याय नीति का

खण्डन ही करना होगा। यदि शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों प्रकार के मज़दूरों का समान वेतन मिले अथवा तीन चार वर्ष कारीगरी की शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त भी मज़दूर को वही वेतन मिले जो एक भंगी को मिलता है जिसका काम केवल झाड़ू लगाना है तब तो अच्छे तथा महत्वपूर्ण काम करने की स्वाभाविक इच्छा का ही अन्त हो जावेगा। वर्तमान समय तथा परिस्थिति में तो विशेषकर यह बात ठीक जँचती है। मनुष्यों की उपजाऊ शक्तियाँ इस समय बढ़ अवश्य गई हैं परन्तु तो भी वे इतनी नहीं बढ़ सकी हैं कि इसी समय से भिन्न २ काम करने वालों को, उनके काम की संख्या व गुण के अनुसार वेतन व पुरस्कार देना ही बन्द कर दिया जावे और उस के स्थान में सब को एक ही निश्चित वेतन दिया जा सके। वर्तमान परिस्थिति में ऐसा करना मानो वास्तविक परिस्थिति को बिलकुल भुलाना अथवा स्वयं अपने को धोखे में डालना ही होगा। समान वेतन की नीति से तो निस्सन्देह उपज की भावी उन्नति ही रुक जावेगी वरन सम्भव है कि उसमें कमी भी होवे। प्रस्तुत वातावरण में स्त्री व पुरुष अच्छा और अधिक परिश्रम का काम उस समय तक सम्भवतः नहीं करेंगे जब तक उन्हें यह आश्वासन न हो जावे कि अधिक अच्छे व परिश्रम वाले काम के लिये उन्हें विशेष पुरस्कार मिलेगा। भले ही थोड़े समय के लिये वह इस प्रकार काम करने को तत्पर भी हो जावें परन्तु सदैव के लिये सम्भवतः यह सम्भव नहीं।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वे लोग उस समय तक काम ही नहीं करेंगे जब तक उन्हें व्यक्तिगत धन एकत्रित करने का अधिकार न हो अथवा वे स्वयं उपज के साधनों को मोल न ले सकें, अथवा पूँजीपति भी बन सकें वेतनों में असमानता और व्यक्तिगत धनोपार्जन का अधिकार तथा एकत्रित धन से पूँजीपति बन सकना यह बिलकुल भिन्न २ बातें हैं; और एक को दूसरे से मिलाना ठीक नहीं और न इसमें कोई भ्रम ही रहना चाहिये।

समान वेतन के सिद्धान्त को अस्वीकार करने का एक कारण और भी है समाजवादी यह भली भाँति जानते हैं कि इस सिद्धान्त को इस समय लागू करना अथवा उसके लिए चेष्टा करने का अर्थ उपज के साधनों और उसी के अनुसार मनुष्य समाज को एतिहासिक विचार धारा को जान बूझकर भुलाना अथवा उसे न समझना होगा। दूसरे इस प्रकार की चेष्टा असम्भव सी भी होगी। समान वेतन के सिद्धान्त को अस्वीकार करने का एक कारण और भी है। वेतनों मे समानता असम्भव ही नही वरन् अवांछनीय भी है। केवल यही नही कि इस समय ही इसे लागू नही किया जा सकता वरन् अन्तिम ध्येय भी हमारा यह नहीं है और न हो ही सकता है। अन्तिम से हमारा अभिप्राय यह नहीं कि संसार मे कभी भी ऐसा नही हो सकता। जहाँ तक हम इस समय विचार कर सकते हैं भले ही भविष्य मे कोई परिस्थिति हो जावे और उसम ऐसा सम्भव हो क्योंकि संसार परिवर्तन शील है और उसमे दिन प्रति दिन नए नए अन्वेषण तथा उन्नति के मार्ग निकलते आते हैं।

समान दशा

प्रत्येक मनुष्य की बिलकुल समान आर्थिक स्थिति जिसमें किसी को भी किसी से तनिक भी अधिक अच्छी दशा न हो, यह सम्भव ही नही है। यदि प्रत्येक मनुष्य को समान वेतन भी दिया जावे तब भी सब की आर्थिक स्थिति समान ही रहेगी यह भी नही कहा जा सकता क्योंकि साधारणतया अधिकतर मनुष्य कुटुम्बों मे रहते हैं। कुटुम्ब की आय का उनके रहन सहन और स्थिति पर विशेष प्रभाव पड़ता है। कुटुम्ब की आय का पता केवल मजदूर की मजदूरी की दर से ही नही चल सकता वरन् कुटुम्ब के सदस्यो की संख्या से भी इसका सम्बन्ध है। सब मजदूरो को समान वेतन मिलने पर भी व्यक्तियो की संख्या मे भिन्नता के कारण मनुष्यो के रहन सहन मे काफ़ी अन्तर पड़ जाता है फिर एक कुटुम्ब मे कितने सदस्य आय लाने वाले हैं और कितने नही

इसका भी विचार करना आवश्यक होगा। उदाहरण के लिए चार व्यक्तियों वाले एक कुटुम्ब की रहन सहन जिस मे तीन व्यक्ति आय लाते हों उस कुटुम्ब की अपेक्षा कही अच्छी होगी जिसमे केवल एक ही ऐसा व्यक्ति है जिसे वेतन मिलता हो और वाकी तीन सदस्य कुछ आय ही न लाते हों। स्वाभाविक है कि इस सदस्य को अपनी रहन सहन में कमी करनी पड़ेगी ताकि तीनों अन्य व्यक्ति भी एक से ही रह सकें। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार भी समान आर्थिक स्थिति नही हो सकती। और भी लीजिये यदि यह भी प्रवन्ध हो कि एक कुटुम्ब के सब सदस्यो को समान वेतन दिया जाये चाहे वे आय लाने के योग्य हों अथवा न हो तो भी सब की आथिक दशा एक सी नही रक्खी जा सकती। प्रथम तो ऐसा सम्भव होना ही कठिन है और यदि ऐसा प्रवन्ध हो भी, तो भी शारीरिक व मानसिक शक्तियो के भिन्न २ रहने से, प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताऐं तथा इच्छाऐं भिन्न २ रहती हैं। उसी के अनुसार उसके खर्च रहते है। एक रोगी मनुष्य खुली हवा मे रहना चाहेगा। वाल - बच्चे वाले आदमी को बड़े घर की आवश्यकता होगी इत्यादि इत्यादि। आवश्यकताओं के भिन्न २ होने से उनके रहन सहन में भिन्नता स्वाभाविक है और इसी कारण प्रत्येक कुटुम्ब अथवा प्रत्येक मनुष्य को समान वेतन देने पर भी सब की आथिकस्थिति समान नही रक्खी जा सकती। इसके विपरीत ऐसे विचारों से हानि ही पहुँच सकती है क्योंकि इसके कारण एक निश्चित योजना के अनुसार कार्य होने मे वाधा पड़ेगी। इन्ही सब वातों को सोचकर पूर्वकाल मे मार्क्स और ऐन्जिल्स ने सैद्धान्तिक रूप से तथा लेनिन व स्टैलिन ने व्यौहारिक रूप मे समानवेतन के सिद्धान्त को अस्वीकार करके प्रत्येक मनुष्य को अपने २ काम की संख्या और गुण के आधार पर वेतन और पुरस्कार देने की ही नीति वरती।

समाजवाद

उपज के साधनों की उन्नति तथा मनुष्य स्वभाव के विचार ने, वर्तमान समय मे बँटवारे का समाजवादी ढंग ही उपयुक्त और आवश्यक

है। पूँजीवादी संगठन मे, वर्षों तक रहने से मनुष्यों के स्वभाव भी कुछ वैसे ही ढाँचे में ढल से गये हैं। और इसी कारण उनमे एक बारगी पूरा-पूरा परिवर्तन कराया नही जा सकता। काम के लिये वेतन की व्यवस्था पूँजीवाद मे है। प्रत्येक मनुष्य लगभग उसका आदी भी है। वेतन के रिवाज को बिल्कुल ही हटा देने से उपज की उन्नति मे गड़बड़ी पड़ जावे, ऐसा भय होता है। सम्भवतः उतनी संख्या मे उतना अच्छा काम न भी हो सके। इसीलिये, वेतन देने की नीति, पूँजीवादी ढंग की होते हुए भी, उसे रखना ही पड़ेगा। परंतु इससे यह अभिप्राय नही कि यह नीति बिल्कुल पूर्ण है और इसमे किसी परिवर्तन की आवश्यकता नही वास्तव मे इसमे कई रुकावटै है जिन्हे अवश्य ही दूर करना पडेगा। परन्तु एक बात यह है कि उपज के साधनो के स्वामित्व के लिये दिये जाने वाले भाग के घातक और घोर अन्याय का अन्त तो इसमे हो ही जाता है। परन्तु काफ़ी असमानता तौ भी रह जाती है जो केवल योग्यता के आधार पर नही है। फिर असमानता भी इतनी है कि उसे भुलाया भी नही जा सकता वरन इसका मिलान निर्धनो को शिक्षा की सहायता, समान अवसर प्रदान करने की नीति, इत्यादिक उपायों मे करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त वेतन की नीति वाले संगठन मे अच्छे वेतनवाले स्थानों और पदवियों के लिए परस्पर मजदूरों मे प्रतिद्वन्दता भी उत्पन्न हो जाती है, वर्गों की प्रतिद्वन्दता बन्द होकर वैयक्तिक प्रतिद्वन्दता बढ़ने लगती है। माने में यह किसी लाभदायक भी है क्योकि इसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अच्छा काम कर सकने की चेष्टा करता है परन्तु फिर भी प्रतिद्वन्दता रोकने के लिए नियन्त्रण रखना ही पड़ेगा और बात के लिए न सही, केवल इसी बातके लिए कि इसे सीमाबद्ध ही रक्खा जा सके। नियन्त्रण रखने के लिए किसी न किसी प्रकार का दबाव रखना स्वाभाविक ही है क्योंकि दबाव के बिना नियन्त्रण रह ही नही सकता। स्वेच्छा पर काम छोड़ देने से तो नियन्त्रण न रहेगा और इसी कारण ऐसा संगठन आदर्श संगठन भी नहीं हो सकता। वर्तमान श्रेणी युक्त संसार मे इसके द्वारा उन्नति भले ही हो जावे परन्तु सामाजिक झगड़ो की सम्भावना तो बहुत कुछ रह ही जाती है।

ऐसा भी नहीं कि यही एक प्रकार का ही संगठन सम्भव हो और मनुष्य समाज को इसी पर सन्तोष करना है। इससे भी अधिक अच्छा संगठन हो सकता है। सम्भव है समय के परिवर्तन से वातावरण मे परिवर्तित हो और इससे भी अच्छा कोई ढंग निकल आवे परन्तु इस समय उन परिस्थितियों पर विचार नही किया जा सकता वर्तमान समस्याओं को सुलझाने के लिए इस समय कि जो न्यायोचित संगठित आर्थिक संगठन की स्थापना ही पर्याप्त होगी।

साम्यवाद

इस दूसरे ढंग के बटवारे में जिसे साम्यवाद कहते हैं, आवश्यक पदार्थ और सेवाओं का बटवारा, मनुष्यों की आवश्यकताओं के अनुसार होता है और मनुष्यो से उनकी योग्यता के अनुसार काम लिया जाता है। आशा की जाती है कि प्रत्येक मनुष्य समाज की जितनी भी सेवा कर सकता है करेगा और सामूहिक कोष से अपनी आवश्यकता भर ही पदार्थ लेगा। इससे अभिप्राय क्या है? क्या यह कि प्रत्येक मनुष्य को जितने जितने जो जो पदार्थ वह चाहे मिले और किसी को भी अपनी इच्छा से अधिक काम करने को न कहा जावे? साधारणतया यह बात आश्चर्यजनक तथा असम्भव सी प्रतीत होती है क्योंकि इतने पदार्थ ही न होंगे कि सब लोगों को जितने जितने वे चाहे दिये जा सकें। दूसरे अधिकतर लोग यदि उन्हे जीविका कमाना न हो, तो काम ही न करें।

साम्यवादी संगठन की स्थापना के लिये दो बातें सब से आवश्यक हैं सर्व प्रथम तो देश में कलाकौशल की पर्याप्त वृद्धि ताकि आवश्यक पदार्थ अधिक से अधिक संख्या में बन सकें। इसके लिये आवश्यक है कि उपज के साधनों की वर्तमान स्थिति से कहीं अधिक उन्नति हो। देश में सब प्रकार की कलें और मशीनें प्राप्त हों जिनके द्वारा कम संख्या में मजदूरों से ही सब मांगें पूरी हो सकें। कम से कम अधिक

परिश्रम कष्टदायक तथा नीची श्रेणी का सब काम तो मशीनों से ही ले लिया जा सके। अधिक कठिन और थकाने वाले भारी तथा प्रारम्भिक काम मशीनों द्वारा ही हो जाना चाहिए ताकि मजदूरों की शक्तियों का व्यर्थ ह्रास न हो। इसमे कोई विशेष कठिनाई भी नही होगी वैज्ञानिक ज्ञान का उपजकी बृद्धिके लिये प्रयोग करने से उपजाऊ शक्ति तो अवश्य बढ़ सकती है सोवियट रूस के अनुभव से यह भली भाँति सिद्ध भी होता है कि लाभ का लाभ छोड़कर वैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग करने से उन्नति अवश्य होती है। वैसेही संसार में उद्योगिक उन्नति दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है नए नए आविष्कार होते जाते हैं जिनके द्वारा उपज मे बृद्धि स्वाभाविक ही है फिर जब उन आविष्कारों का प्रयोग वर्तमान दोष पूर्ण पूँजीवादी संगठन मे न होकर समाजवादी सिद्धान्तो की उन्नति मे हो तब तो उन्नति और भी अधिक होगी।

परिवर्तित वातावरण

उपज की बृद्धि के अतिरिक्त, साम्यवादी संगठन होने के लिये वातावरण मे परिवर्तन भी आवश्यक है। साम्यवादी संगठन के पूर्व जिसमे प्रत्येक मनुष्य को इच्छानुसार पदार्थ मिले और उसे अपनी इच्छानुसार ही काम करना पडे मनुष्यों की विचार धारा मे प्रयाप्त परिवर्तन आवश्यक है ताकि वे परिवर्तित वातावरण मे अपने को आदी कर सके। वर्षों पूँजीवादी संगठन मे रहने से प्रायः उनके स्वभाव भी वैसे ही हो गये हैं और उन्हे उनको बदलने अथवा बदले हुए वातावरण मे अपने को रख सकने मे काफ़ी कठिनता होगी और काफ़ी समय भी लगता है। इस समय समाज मे लगभग ६० प्रतिशत मनुष्यों का जीवन अधिक काम और दिनभर की मेहनत में ही बीतता है। काम के आगे उन्हे सब कुछ त्यागना पड़ता है। १००, १५० वर्ष की उद्योगिक उन्नति भी मनुष्य जीवन के इस ढंग को बदल नही सकी क्योंकि उपजाऊ शक्तियों मे जो कुछ भी उन्नति इस पूँजीवादी संगठन मे हुई प्रायः यह सब पूँजी तथा पूँजीवाद को बढ़ाने और उसकी उन्नति के लिये ही सुरक्षित रक्खी गई। भले ही उससे

पूँजीपतियों को थोड़ा लाभ हुआ हो जनसाधारण को तो उससे कोई विशेष लाभ हुआ ही नहीं। एक मनुष्य के लिये जो दिनभर कड़ी मेहनत के उपरान्त कठिनता से रूखा सूखा भोजन वस्त्र पाता हो, थोड़े समय के हल्के काम से मनोवांछित पदार्थ मिलजाना मानो एक कायापलट ही होगा। और उसके अनुसार अपने को ढालने मे उसे पीढ़ियाँ बीतेगी। परन्तु इस प्रकार का वातावरण समाजवादी संगठन मे, पदार्थों की अधिकता और निश्चित्ता से शीघ्र ही सुलभ हो सकेगा।

समाजवादी संगटन मे रहते हुए मनुष्य निस्संदेह शीघ्र ही वातावरण पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। यह तो नही कहा जा सकता कि पूँजीवाद के अन्त के बाद समाजवादी वातावरण कितने वर्षो मे हो सकेगा और न इस बात की जाँच में व्यर्थ समय नष्ट करना ही ठीक होगा।

अपव्यय की आशंका

कहा जाता है कि अधिक धन मिलने पर उसे व्यर्थ गँवाने और जीवन निर्वाह के लिये काम की आवश्यकता न होने पर समय नष्ट करने का स्वाभाविक भावना होगी। आसानी तथा परिश्रम प्राप्त धन का अपव्यय तथा दुर्व्यय किया जावेगा। परन्तु ऐसा भी सदैव नही हो सकता, प्रारम्भ मे भले ही थोड़ा बहुत ऐसा हो कोई स्त्री या पुरुष जिसे अब तक कभी पेट भर खाने व पहनने को न मिला हो भलेही खाना मिलनेपर वर्षों भूखी आत्मा को शान्ति करने के लिये एक बार बहुत-सा भोजन करले। परन्तु दिन बीतनेपर सदैव ऐसी दशा कदापि नही रह सकती। प्रति दिन कोई अधिक खाना नही खा सकता। और न किसी को ऐसी इच्छा ही होगा समय नष्ट करने के सम्बन्ध मे भी यही है। बराबर अधिक समय तक कोई उसे नष्ट भी नही कर सकता। क्योंकि ऐसा करने को उसकी इच्छा ही नही रह सकती। यदि वह करे भी तो उसके बाल बच्चे तो कभी ऐसा करेगे ही नही और इस प्रकार वातावरण बनता जावेगा। वैसे भी किसी मनुष्य को बिना रोक टोक के

पदार्थोंके लिये मांग करने को कहने से वह इस समय भी असम्भव मांग नही रखता। फिर ऐसे देश के लोगो के लिये जहाँ किसी पदार्थ की कमी नहीं, और प्रत्येक मनुष्य को मनोवांछित पदार्थ मिल सकते हैं यह विचार ही बिल्कुल हास्यप्रद है कि वे आवश्यकता से अधिक कोई पदार्थ लेंगे भी। और फिर लेकर वे करेंगे भी क्या? ऐसे पदार्थों को संभालेगा कौन उनका प्रयोगही क्या होगा। मान लो ऐसे वातावरण में भी कोई मनुष्य दसियों मोटर, पचासों सूट, मनो खाना, इत्यादिक ले लेता है तो इन चीजों को देख रेख कौन करेगा, व्यक्तिगत नौकर तो होंगे नहीं। फिर उनका प्रयोग कौन करेगा। क्योंकि सब के पास अपनी-अपनी आवश्यकता भर सामान तो होगा ही।

इस समय आवश्यकता से अधिक सामान धनी लोग इस विचार से ही लेते है कि उनके द्वारा वे दूसरों को नौकरी करने के लिये विवश कर सकेंगे और उनसे लाभ अथवा अधिक सुविधा उठा सकेंगे। परन्तु उपज की अधिकता और निश्चिता होने तथा संगठन के नियमों के कारण कोई किसी को नौकर तो रख ही नहीं सकेगा। और इस कारण केवल उतने ही पदार्थ लिये जावेंगे जिनकी उन्हें स्वयं आवश्यकता हो और वे स्वयं ही उनकी देख रेख कर सकेंगे। कि मशीनों के होने से थोड़ी देख रख उनके द्वारा भी हो जावेगा। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों को समाज के माल की रक्षा का भी ध्यान होगा। और इससे भी पदार्थों की मांग में रोक थाम रहेगी। भोजन इत्यादिक पदार्थों में वैसे ही रोक थाम रहती है क्योंकि इच्छा से अधिक इन पदार्थों के प्रयोग ही नही हो सकता। अस्तु यह नहीं कहा जा सकता कि लोग आवश्यकता से अधिक पदार्थों की मांग करेंगे।

काम का आनन्द

इसके विपरीत ऐसे संगठन मे एक बड़ा लाभ यह है कि मनुष्यों को काम मे जीवन के आनन्द का अनुभव होगा, जिसे वे सरलता से छोड़ भी नही सकेंगे। क्योंकि संसार मे कुछ लोग अच्छा और भलाई का काम करनेवाले आज भी अपने काम मे ही जीवन का

संतोष प्राप्त करते है और उन्ही मे उन्हे पूरा-पूरा आनन्द भी मिलता है।

मनुष्य समाज की उन्नति में किसी संगठन का भी असम्भव ऐसा कह देना उचित नही। हमारे पूर्वज बहुत सी बातो को असम्भव समझते थे जो आज सम्भव ही नहीं, बल्कि वास्तविक है। रेल व हवाई जहाज की बातो पर हँसी उड़ाई जाती थी, परन्तु आज हम उन्हे अपनी आंखों देखते है। कौन कह सकता है भविष्य मे क्या-क्या उन्नति हो जावे, संसार तो अभी प्रगति के मार्ग पर ही है। समाज ने तो उन्नति करना प्रारम्भ किया है भविष्य मे क्या होगा कौन कह सकता है।

अस्तु, संक्षेप मे दो प्रकार के सामाजिक संगठन बताये गये हैं। प्रथम तो वह जिसमे उपज एक निश्चित योजना के आधार पर होती है और उपज का बटवारा मनुष्यो मे काम की सख्या तथा गुण के आधार पर होता है, यह है समाजवाद।

समाजवादी संगठन

——:o:——

प्रयोग के लिये उपज

——:o:——

किसी भी संगठन को हटाने और उसके स्थान पर कोई दूसरी व्यवस्था लाने के लिये यह आवश्यक ही होता है कि उक्त दूसरी व्यवस्था लाभदायक और सुलभ हो। पूँजीवादी संगठन को दूर कर सकने के लिये भी इसी बात की आवश्यकता है। पूँजीवाद के दोष गिनाना व्यर्थ और निरर्थक ही होगा यदि यह न बताया जावे अथवा जा सके कि उनके स्थान पर एक दूसरा आर्थिक संगठन भली प्रकार चल सकता है। समाज के आर्थिक जीवन के संगठन का कोई न कोई ढंग अवश्य होगा ही और यदि पूँजीवाद के स्थान पर कोई दूसरा युक्त ढंग हो ही नहीं सकता तब तो विवश होकर पूँजीवाद का ही स्वीकार करना पड़ेगा। चाहे वह कितना ही अन्यायपूर्ण, व्यर्थ, तथा हानिकारक ही क्यों न हो।

इसी कारण पूँजीवाद और समाजवाद के परस्पारिक गुण दोष उनके आध्यात्म तथा सभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले विषय, राजनैतिक व सामाजिक संगठन इत्यादि पर विचार करने के पूर्व समाजवादी संगठन के प्रारम्भिक आधारों का विवरण आवश्यक है। मनुष्य समाज को सबसे पहिले अन्न, जल, स्थान तथा वस्त्र मिलने का प्रबंध होना चाहिये। राजनीति विज्ञान, कलातथा धर्म इत्यादिक विषयो

का विचार तो उसके बाद की बातें हैं और इसी कारण सबसे प्रथम आर्थिक समस्या पर ही विशेष ध्यान देना पड़ेगा और इसका संतोषजनक उत्तर मिल जाने पर ही, समाजवादी व्यवस्था के अन्य अंगों पर विचार हो सकेगा।

प्रारम्भिक समस्या

समाजवाद की प्रारम्भिक आर्थिक समस्या तो यह है कि किसी प्रकार उपज लाभ के आधार पर न होकर आवश्यकता के आधार पर हो। समाज मे पदार्थ केवल लाभ के आधार पर ही न बनाये जावें वरन् लाभ के अतिरिक्त इसबात पर स्वतन्त्र रूप से निश्चय होना चाहिये कि कौन कौन से पदार्थ बनने चाहिये और किस किस संख्या मे। इसका निर्णय किस प्रकार, किस आधार पर और कैसे हो सकता है यही देखना है। क्योंकि पूँजीवादी लाभ के आधार पर होने वाली उपज, को अस्वीकार कर देने के बाद उपज के लिये कोई दूसरा ढंग तो ढूँढ़ना ही होगा।

उपज के दूसरे ढंग पर संगठन करने का एक ही उपाय है और वह यह कि कोई एक केन्द्रीय संस्था समझ बूझकर पदार्थ और उसकी उपज की संख्या का निर्णय कर दे और उसी के अनुसार उपज हो। उपज के वश में रखने और उसे देश तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल रख सकने का यही एक उपाय हो सकता है कि जिसमें पूँजीवाद के दोषों से छुटकारा मिल सके उपज पर इस प्रकार नियंत्रण रखने की योजना आवश्यक भी है क्योंकि कम लाभ देने वाले पदार्थों को बनाने से होने वाली हानि का सहना भी समाज के लिये उतना ही आवश्यक है जितना कि अधिक लाभ देनेवाले पदार्थों को बनाकर लाभ उठाना। यदि केवल वे ही पदार्थ बनाये जावें जिनसे लाभ हो तब तो समाज में एक उथल-पुथल ही मच जावेगा। पूँजीवादी संगठन के दोषों को बताते हुए यह स्पष्टतया कह ही दिया गया है कि मनुष्यों के जीवन

के लिए परमावश्यक पदार्थों के बनाने मे अधिक लाभ नही होता क्योंकि उन पदार्थों की मांग बहुत कुछ सीमित ही रहती है परन्तु ऐसा होते हुए भी यदि यह पदार्थ बनाये न जावे तो समाज जीवित ही नही रह सकता। कुछ पदार्थों के विषय मे तो स्थिति यहाँ तक है कि लाभ के स्थान मे हानि होने पर भी उन पदार्थों का बनाना आवश्यक होता है। जन समाज की सुविधा, उनके कष्ट निवारण और मांगों को पूरा करने के लिये, ऐसे पदार्थों का बनाना स्वाभाविक और आवश्यक ही है। और यदि व्यक्तिगत व्यापारी इनके बनाने का प्रबन्ध नही करते तो, शासन को स्वयं ही इसका प्रबन्ध करना पड़ेगा।

इस प्रकार उपज के सम्बन्ध में जान बूझ कर निश्चयो द्वारा उपज को संगठित करने की रीति को ही प्रयोग के लिये उपज की व्यवस्था कहते हैं। और यही समाजवाद है।

समाजवादी संगठन

समाजवादी संगठन में किस प्रकार और किस सिद्धान्त पर काम होता है, यह बताने का सब से उत्तम उपाय किसी उद्योगशाली देश मे इस व्योहारिक रूप मे चलता हुआ दिखाना ही ठीक होगा। केवल शाब्दिक परिभाषा न प्रयाप्त ही होगी, और न उससे अधिक काम ही चल सकेगा, इङ्गलैंड, अमेरिका अथवा किसी ऐसे ही उद्योगशाली (Highly Industrialised) देश मे इस आधार और सिद्धान्त पर बनाई गई योजना को विस्तार पूर्वक वर्णन करने और उसे व्यवहारिक रूप मे रखने से ही इस प्रकार का संगठन भली भाँति समझा जा सकेगा। अभी तक तो इन देशों मे आर्थिक जीवन का संगठन पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर गत लाभ के आधार पर ही है। परन्तु तौ भी यह असम्भव नही कि इन देशो मे उपजाऊ शक्तियो की परीक्षा करके इस बात का अनुमान किया जा सके कि प्रयोग के आधार पर उपजाऊ शक्तियो का संगठन करने से परिणाम क्या होगा और उस आधार पर नवीन योजना बनाई जावे।

अमेरिका के सम्बन्ध में तो ऐसी एक योजना तैयार भी है गो कि योजना के बनाने वालों ने अनजाने केवल राष्ट्र की उपजाऊ शक्तियों की परीक्षा करने के लिए ही इतना कष्ट और समय लगाया था। इस प्रकार की चेष्टा देश की उपजाऊ शक्तियों की राष्ट्रीय परीक्षा के लेखकों (authors of the National Survey of the Potential Product capacity) द्वारा ही की गई थी। और वे बड़े परिश्रम के उपरान्त इस परिणाम पर पहुँचे कि अमेरिका के प्रत्येक ४ मनुष्य वाले कुटुम्ब की आय ६१५ पौंड प्रति वर्ष हो सकती है।

अमेरिका के अर्थ शास्त्र ज्ञाताओं का इस दल का ध्यान जो अमेरिका के कल कारखानों तथा खेतों की वास्तविक उपजाऊ शक्तियों की जाँच करने के लिए बैठा था किसी विशेष आर्थिक संगठन की ओर न था और इसी कारण उन्होंने अपनी जाँच केवल आंकड़ों तक ही सीमित रक्खी। व्यौहारिक क्षेत्र की ओर वे अधिक आगे नहीं बढ़े और न ऐसा उनका विचार ही रहा।

वास्तव में समाजवादी संगठन, अमेरिका में किस प्रकार चल सकेगा, इसे बताने अथवा फैलाने का विचार न तो उन लोगों के विचार में ही था और न अमेरिका के शासकों का ही ध्यान इस ओर गया जब कि उन्होंने इस जांच कमेटी को नियुक्त की थी और उसे अपना काम करनेके लिए धन दिया। कमेटी के काम का विचार करने से यह स्पष्ट पता लगता है कि किस प्रकार एक के बाद दूसरे प्रश्न उनके सम्मुख उपस्थित हुए और उन्हें सुलझाते हुए उन्होंने किस प्रकार सम्पूर्ण अमेरिका के लिए एक समाजवादी संगठन की योजना का ढाँचा बना दिया। कमेटी की काररवाई विस्तार पूर्वक जानना विशेष लाभप्रद भी है क्योंकि अमेरिका की भांति अन्य देश भी समाजवादी संगठन में उपस्थित होने वाली समस्याओं को न केवल समझ ही लेंगे वरन् व्यौहारिक रूप में उन्हें सुलझा भी सकेंगे।

अमेरिका के शासन ने इस जांच कमेटी की नियुक्ति देश की सम्पूर्ण उपजाऊ शक्तियो का अनुमान लगाने को की थी। परन्तु उन लोगों ने इसका अर्थ यह समझा कि देश की उपजाऊ शक्तियां देशवासियो की आवश्यकताओं को कहां तक पूरा कर सकती हैं। और इसी कारण उन्हे अमेरिकावासियों की आवश्यकताओं की भी जांच करनी पड़ी। उन्हे यह कठिन प्रतीत भी नही हुआ। सन् १६३३ ई० में जब कि यह जांच प्रारम्भ हुई अमेरिकावासियों को खाना, कपड़ा घर इत्यादिक आवश्यक वस्तुओं मे बहुत कमी थी।

घरों का ही उदाहरण ले लीजिए। अमेरिकावासियों के रहने की आवश्यकता पूरी करने के लिये १ करोड़ ५० लाख नए घर चाहिये थे, इतने घरों के हो जाने पर प्रत्येक चार मनुष्यों के कुटुम्ब के लिए प्रचलित सुविधाओं सहित पाँच या छः कमरों वाला एक घर हो सकेगा। रिपोर्ट के अनुसार दस वर्षीय योजना से प्रति वर्ष १५ लाख ५० हज़ार घर बनाना आवश्यक होता था परन्तु क्या इतने घर बनाने की आवश्यक सामग्री देश में थी? क्या प्रयाप्त संख्या मे मजदूर ईंटा, लोहा, विद्युत शक्ति इत्यादिक सामग्रियाँ प्राप्त थी? उत्तर स्पष्ट है, कि अवश्य थीं यदि वे अन्य किसी काम में न लगाई जाती परन्तु उनमें से कुछ को तो अवश्य ही दूसरे कामों में लगाना पड़ेगा क्योंकि देश के सब मजदूर केवल घर बनाने मे ही तो नही लग सकते। यदि ऐसा हो भी तो बहुत से मनुष्यों को भूखे ही मरना पड़े, क्योंकि इन सामग्रियों का बहुत बड़ा भाग अन्य उतनी ही आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने जैसे खाना, कपड़ा, व्योहारिक रूप में शिक्षा, माल ढोने, मनोविनोद इत्यादिक कामों मे लगता है। मजदूरों को केवल घर ही नहीं बनाने हैं वरन् वे अनाज भी उपजाते हैं। इसी प्रकार लोहे, विद्युत शक्ति इत्यादि का प्रयोग अन्य मशीनों को बनाने, नल ढालने इत्यादि मे भी होगा। इसलिए प्रश्न तो यह रह जाता है घर बनाने की सामग्री की माँगें पूरी करने के पश्चात् क्या दस वर्ष तक १५ लाख ५० सहस्त्र घर बनाने को शक्ति बाकी रह जाती है और यह प्रश्न स्पष्ट रूप से

इसी बात पर निर्भर है कि उतनी ही आवश्यक मांगें क्या क्या हैं ? अथवा दूसरे शब्दों में 'एक देश की उपजाऊ शक्तियाँ किन किन प्रयोगों में लगाई जावें और इसका निर्णय कौन करे।' यह तो स्पष्ट ही है कि बहुत सी उपजाऊ शक्तियों के कई प्रयोग हो सकते है। मजदूरों को कोई एक संख्या घर बनाने, भोजन सामग्री उत्पन्न करने, लिखने पढ़ने अथवा किसी और धन्धे मे लगाई जा सकती हैं लोहे की एक निश्चित संख्या घर के नल बनाने, इन्जन बनाने तथा बरतन बनाने इत्यादि मे लग सकती है विद्युत शक्ति का प्रयोग कल कारखानो को चलाने मे हो सकता है अथवा घरो की रोशनी मे, परन्तु उसी निश्चित संख्या मे एक समय मे दोनो प्रयोग नहीं हो सकते।

उदाहरण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। प्रति वर्ष आवश्यक संख्या मे घर बनाने के लिए आवश्यक सामग्रियों मे लोहा या इस्पात चाहिये। रिपोर्ट लेखको को जांच करनी थी कि क्या दूसरे उतने ही आवश्यक कामों मे लगने के पश्चात इतना लोहा बचेगा कि घर बनाने के लिए सामग्री की माँग पूरी की जा सके। तुरन्त ही प्रश्न होता है कि क्या वे सब काम जिसमे यह लोहा लगता है उतने ही आवश्यक हैं जितना कि घर बनाना। सन् १९२९ मे अमेरिका मे लोहे अथवा इस्पात की उपज का एक बहुत बड़ा भाग कार्यालयों के लिये गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ बनाने मे प्रयोग होता था। और रिपोर्ट लेखक यह बात लिखे बिना नही रह सके कि अमेरिका वासियों को कार्यालयो के लिये गगनचुम्बी अट्टालिकाओ को इतनी आवश्यकता नहीं जितनी को छोटे-छोटे घरों की देशवासियों को एक बड़ी संख्या टूटे फूटे गन्दे और भरे हुए मकानों मे रहती थी और उसके बहुत दिनों पश्चात तक भी रही। इसके विपरीत दूसरी ओर यह भी स्पष्ट था कि किसी को भी कार्यालयों के लिये अधिक स्थान की आवश्यकता न थी क्योंकि बहुत से नए बने हुए ऊँचे ऊँचे घर खाली पड़े थे और जो किसी किसी में लोग थे भी, वे आस पास के अपने कार्यालयों को छोड़ कर इसमे रहे थे। इतना होने पर भी अमेरिका का

अधिक लोहा नई गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के बनने मे ही लगाया जाता था। रिपोर्ट लेखकों को यह बात बड़े आश्चर्य की प्रतीत हुई क्योंकि अन्य मनुष्यों की भाँति उनको भी यही विश्वास दिलाया गया था कि देशवासियों को उस समय (सन् १९२९ ई० मे) कार्यालयो के लिये ऊँचे-ऊँचे मकानो की ही अधिक आवश्यकता है। न को छोटे घरों को। गोकि वास्तव मे ऐसे ऊँचे-ऊँचे घर कही अधिक संख्या में थे।

जाँच करने के पश्चात, वे स्वयं भी इसकी आवश्यकता को जान सके। उन्हे यह भी ज्ञात हुआ कि सन् १९२९ ऐसे उन्नति वाले वर्ष मे भी अमेरिका वासियो ने अपने लोहे को कलो का उनकी शक्ति से केवल ८४ प्रतिशत ही प्रयोग किया और सन् १९३२ ई० मे तो २० प्रतिशत से भी कम यदि १९२९ ई० मे अमेरिका वासी अपनी लोहा बनाने की शक्ति का पूरा-पूरा प्रयोग करते तो अन्य प्रकार के लोहे के साथ साथ ८ दशमलव ७ लाख मकान बनाने वाला लोहा उत्पन्न कर सकते थे—रिपोर्ट लेखकों के सामने यह भी प्रश्न उठा कि मकान बनाने के लिये लोहा कितना मिल सकेगा। इस बात का अनुमान लगाते समय यह भी विचार आवश्यक हुआ कि यदि आवश्यकता भर लोहा उत्पन्न भी हो गया होता तो क्या इसमे से भी एक बहुत बड़ा भाग कार्यालयों के लिये ऊँचे २ घर बनाने मे न लगता, माँग और लाभ के आधार पर तो यह मानना ही पड़ेगा कि ऐसा ही होता। ऐसी स्थिति मे घर बनवाने के लिये कभी लोहा बच ही नही सकता।

कमेटी के सदस्यो को यह विश्वास असम्भव प्रतीत हुआ कि देशवासियो को गगनचुम्बी अट्टालिकाओं की अधिक माँग है। निस्सन्देह उनकी संख्या बहुत थी। उन लोगो का ऐसा विचार हुआ कि अधिक संख्या मे उत्पन्न होने वाला लोहा सम्भवतः घर बनवाने के काम मे ही लगाया जाता। वे इस परिणाम पर भी पहुँचे कि अमेरिका का प्रत्येक कुटुम्ब उसी प्रकार का जीवन व्यतीत कर सकता है जिस प्रकार सन् १९२९ ई० में ९१५ पौंड अथवा ४४००, डालर (*dollar*) आयवाले

कुटुम्ब वास्तव में व्यतीत करते थे। यों तो यह परिणाम बिल्कुल दोष रहित प्रतीत होता है परन्तु व्योहारिक रूप मे ऐसा है नहीं। क्योंकि यदि यह मानलिया जावे कि अधिक उत्पन्न किया गया सब लोहा घर बनाने में ही लगाया जाता, अथवा उसे उस काम में लगाने को कहा जावे तो प्रश्न वही आजाता है कि उपजाऊ शक्तियो का प्रयोग भिन्न २ कामों मे किस प्रकार से बाटा जावे और इसे कौन करे। यदि ऐसा हो भी सके तो भी कठिनाई तो यह है कि प्रचलित संगठन में इस प्रकार का विभाजन करना तो एक अवगुण गिना जाता है क्योंकि ऐसे काम का अर्थ—लाभ के आधार पर माँग और बिक्री को स्वयं मिलाने वाली व्यवस्था पृथक होना ही होगा जो पूँजीवाद का प्रारम्भिक आधार है। इस प्रकार पूँजीवादी संगठन को छोड़ कर दूसरे ही प्रकार के संगठन को मानना और उस पर काम करना होगा। ऐसा संगठन समाजवाद के अतिरिक्त और क्या हो सकता है।

कमेटी ने अन्तिम निश्चय यही किया कि उत्पन्न हुए लोहे की संख्या मकान बनाने में ही अधिक लगना चाहिये और कार्यालयों के लिये ऊँची २ मीनारे बनाने मे कम, गोकि बड़े २ कारखानों के मालिक तथा व्यापारिक दिग्गज यही कहते रहे कि देशवासियों को घरों से कही अधिक मीनारो की आवश्यकता है।

पूँजीवाद के समर्थक सम्भवतः यह आपत्ति रक्खे कि इन रिपोर्ट लेखकों को किसने शासक तथा न्यायाधीश बनाया कि वे इस प्रकार उपज के प्रयोग पर निर्णय दें। इतना ही नही कि लेखक केवल लोहे की उपज का प्रयोग बताकर ही संतुष्ट हो गये हो कि उसका प्रयोग मीनार बनाने मे कितना हो और कितना घर बनाने में। वरन् ज्यों ही उन्हे देशवासियों की खाना, कपड़ा, मोटर और सैकड़ों अन्य प्रकार की मांगों और उन्हे पूरा कर सकने की शक्तियों का पता लगा, उन्हे यह प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगा, कि जब तक वे अमेरिका के सब उपजाऊ कल कारखानों की शक्ति तथा इन कारखानों से बनी

वस्तुओं के प्रयोग का पूरा-पूरा पता न लगा ले। उनके लिए यह कहना असम्भव है कि देशवासियों की यह मांगें और कितनी हैं और वह कैसे पूरी हों। इसी लिए उपजाऊ शक्तियों से उत्पन्न होनेवाली सब फ़ालतू सामग्रियां तथा अधबने पदार्थों का फिर से बटवारा करने का उन्होंने निश्चय किया। और यह बटवारा सन् १६२६ ई० में प्रचलित ढंग पर न करके, उसे उन-उन प्रयोगों मे बांटा जिसे उन्होंने अधिक आवश्यक समझा।

परन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि वे इस परिणाम पर किस प्रकार पहुँचे और कैसे उन्होंने यह निश्चय किया कि कौन-कौन से प्रयोग अधिक आवश्यक और कम आवश्यक हैं।

उनका ध्यान इस बात पर अधिक रहा कि लब्ध उपज का प्रयोग इस ढंग से किया जावे कि इससे मनुष्यों की प्रारम्भिक आवश्यकताये जैसे खाना, कपड़ा, घर इत्यादिक भली भाँति पूरे हो सके। और उनकी दूसरी मांगें।

जैसे देखने के लिए मीनारे, खेल, तमाशे आमोद प्रमोद की सामग्रियां इसी प्रकार की अन्य मांगों को पूरा करने मे देश की उपजाऊ शक्तियो का प्रयोग कम हो। इस प्रकार उनके लिए मनुष्यों की मांगों को आवश्यकता के पारस्परिक सम्बन्ध का भी निर्णय आवश्यक हुआ दूसरे शब्दों मे मनुष्यों की वास्तविक मांगें क्या हैं।

मांगों का अनुमान

मनुष्यो की माँगों का अनुमान लगाने के लिये देशवासियों के लिये बजट बनाने की आवश्यकता हुई और फिर इस बात की जाँच की कि देश की उपजाऊ शक्ति इन सब माँगों को पूरा कर सकती हैं अथवा नहीं। जाँच के उपरान्त वे इस परिणाम पर पहुँचे कि शक्तियाँ तो काफ़ी हैं परन्तु उनके प्रयोगों मे परिवर्तन करना आव-

श्यक है। और वह इस ढङ्ग से होना चाहिए कि बजट में कहे हुए आवश्यक पदार्थों को बनाने में ही उनका विशेष प्रयोग हो।

इसके विपरीत पूँजीवादी शास्त्रज्ञों का कहना है कि इस प्रकार का ऐसा कोई बजट बनाया ही नहीं जा सकता। ब्रिटेन और अमेरिका के विश्व विद्यालय तक इसे असम्भव ऐसा कहते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है। उनका यह कहना कि मनुष्यों की मांगें इतनी भिन्न और अधिक हैं यह कहा ही नहीं जा सकता कि वे क्या-क्या पदार्थ चाहते हैं और कितनी-कितनी सख्या मे। उनकी माँगों का कोई बजट बना नहीं सकता। मांगों की परख तो रुपये से होती है कि वे किस पदार्थ के लिए कितना रुपया व्यय कर सकते हैं। उनकी मांगों की यही सच्चीं तोल है। उपज को भी इसी आधार पर घटाना व बढ़ाना चाहिये बिक्री अधिक होने अथवा मूल्य अधिक मिलने पर किसी पदार्थ की उपज अन्यथा बढ़ाना घटाना ही आवश्यक होगा।

उपरोक्त लोहे के उदाहरण में इस आधार पर फ़ालतू सब उपज ऊंची मीनारों के बनाने में लगाने से तो मनुष्यों को टूटे झोपड़ों मेंही पड़े रहना पड़ेगा उनका यह भी कहना है [कि यदि इस आधार पर उपजाऊ शक्तियों का पूरा-पूरा प्रयोग न भी हो सके, तो भी अपना दुर्भाग्य इससे अधिक और कुछ नही, अन्य कोई प्रबन्ध हो ही नही सकता बजट के अनुसार उपज करने के अर्थ तो मनुष्यों को उन पदार्थों के लेने के लिए विवश करना है जिन्हे वे लेना नही चाहते भलेही उन्हें उनकी मांग हो।

यदि इस सिद्धान्त पर साधारण रूप से ही विचार किया जावे तो यह कुछ-कुछ ठीक भी प्रतीत होता है प्रत्येक देशवासी के लिए खाना, कपड़ा, घर इत्यादि पदार्थों का पहले बजट बनाकर फिर यह कहना कि केवल वे ही पदार्थ बनाए जावें थोड़ा नानाशाही सा ही दीखता है।

परन्तु तो भी ठीक यही है कि उपज का निर्णय मनुष्यों की मांगों के आधार पर हो। न कि उनके मूल्य दे सकने की शक्ति पर।

साधारण रहन सहन

मनुष्यों का मागों का अनुमान लगाने में कोई विशेष कठिनाई भी नहीं आश्चर्य की वात भले ही प्रतीत हो। परन्तु वास्तव में देशवासियों की मागों का निश्चय करना देश की उपजाऊ शक्तियो के अनुमान से कही सरल है। किसी एक मनुष्य के लिये कितना खाना आवश्यक होगा, कितना कपड़ा और स्थान वह चाहेगा, इत्यादिक आवश्यक मागों का अनुमान लगाना कठिन नही क्योकि एक समय साधारण मनुष्य को अधिक तर समान ही खाना, और खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होगी। मध्यश्रेणी और वड़े २ शहरों के रहने वालों के इन पदार्थों मे वास्तविक व्यय के अनुसार भोजन की मॉग का अनुमान लग सकता है। इसी प्रकार निवास स्थान के सम्वन्ध मे। स्वभावतः एक मनुष्य ५ या ६ कमरे वाले घर में रहना चाहेगा गोकि उससे कम में भी सम्भवतः उसका निर्वाह हो सके औषधि, पढ़ाई इत्यादि के सम्बन्ध मे विश्वविद्यालय के अध्यापको, डाक्टरों, तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियो से जाँच करके इन पदार्थों और सेवाओं का भी अनुमान लगाया जा सकता है। और इस प्रकार देशवासियो की मागों का एक वजट बनाया जा सकता है। ऐसा वजट वन जाने पर उसके अनुसार सुविधा से उपज की व्यवस्था की जा सकती है।

अनुमान लगाने का ढंग

व्योहारिक रूप मे भी ऐसा वजट बनाने तथा मागों का अनुमान लगाने मे कोई विशेष कठिनाई न होगी। इस काम मे केवल दोही मुख्य बाधाएँ हैं एक तो मनुष्यों की वास्तविक मांगो को जानना और दूसरे उनका केन्द्रीय आधार।

प्रथम के सम्बन्ध में यह तो पता चल ही सकता है कि उनकी मांगें अब तक क्या रही हैं। गत वर्ष इन मांगों का क्या अनुपात रहा। उसमे क्या घटती व बढ़ती होनी चाहिए।

गत वर्ष की माँगों और उनके अनुपात के आधार पर अगले वर्ष के लिए अनुमान लगाया जा सकता है। भले ही पिछले वर्ष की रहन सहन संतोष जनक न रही हो परन्तु उससे अगले वर्ष के लिए आधार तो अवश्य ही मिल सकता है। और फिर उस आधार में आवश्यक घटा बढ़ाकर भविष्य के लिए वजट बनाना कठिन नहीं। गतवर्ष के प्रयोग में देशवासी अगले वर्ष के लिए कितनी बृद्धि चाहेंगे इतना हीं अनुमान लगाना रह जाता है।

इसके अतिरिक्त वर्तमान समाज में अधिकतर कुटुम्बों का रहन सहन असन्तोषप्रद होने पर भी कुछ कुटुम्ब ऐसे अवश्य होते हैं जिनका रहन सहन अच्छा नहीं तो साधारण तया सन्तोषजनक अवश्य होता है। बड़े बड़े धनी व्यक्तियों का यहाँ उल्लेख नहीं। उनका रहन सहन तो एक अद्‌भुत प्रकार का मनमाना सा ही होता है। परन्तु मध्य श्रेणी के कुछ कुटुम्बों की पिछली रहन सहन भविष्य के लिये आधार अवश्य मानी जा सकती है। और उस आधार को लेकर यह कहा जा सकता है कि देशवासियों को साधारणतया उस रहन रहन तक तो पहुँचना ही चाहिए। इस प्रकार रहन सहन की एक कम से कम मात्रा (Minimum average standard) स्थापित हो जाती है जिस पर भिन्न भिन्न परिस्थिति के व्यक्तियों अथवा कुटुम्बों की रहन सहन, उनकी काम करने की योग्यता, आय, तथा आवश्यकताओं के आधार पर निश्चित की जा सकती है। यह तर्क उचित तथा न्याय संगत तो अवश्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार देशवासियों की आवश्यक माँगों का अनुमान लगा कर फिर उसके आधार पर उपज का बटवारा भिन्न भिन्न पदार्थों में हो ताकि प्रत्येक पदार्थ उतनी ही संख्या में बने जितने कि आवश्यक हों तभी मनुष्यों की सब माँगें पूरी हो सकेंगी। पूँजीवादी व्यवस्था में तो यह हो ही नहीं सकता क्योंकि वहाँ तो आधार ही दूसरा है और इसी कारण तो ऐसी व्यवस्था का

अन्त करके नए ढङ्ग पर योजना बनाने की आवश्यकता पड़ी।

बजट में संशोधन

प्रथम वर्ष तो सम्भवतः माँगों के पदार्थों की सूची ही बन सकेगी और फिर उसमे भी त्रुटियाँ रह सकती हैं। ठीक अनुमान न लग सके यह भी सम्भव है परन्तु बाद के वर्षों मे धीरे धीरे त्रुटियाँ दूर होती जावेगी और फिर अनुमान निश्चित आधार पर पूर्ण रूप से बन सकेगा।

किसी वर्ष के प्रस्तावित बजट में केवल योजना बनाने वालों की त्रुटियों के कारण ही, संशोधनों की आवश्यकता न होगी वरन नए नए अविष्कारों और जनता की इच्छाओं मे उनसे होने वाले परिवर्तनों के कारण भी ऐसे बजट में संशोधन करने पड़ेंगे। ऐसा तो है नहीं, और न होही सकता है, कि मनुष्यों के स्वभाव और इच्छाएँ सदैव एक ही सी रहे और उनमे कभी कोई अन्तर ही नही पड़े। वास्तव में वे समय समय पर बदलती जाती है। और इसी कारण योजना बनाने वालों को अगले वर्ष के लिये योजना बनाते समय, इसे भी ध्यान में रखना पड़ेगा।

योजना बनाने वालों से कभी कोई त्रुटि होवेगी ही नहीं, और वे सब ठीक ही काम करते रहेंगे ऐसा भी नही कहा जा सकता। प्रारम्भिक काल में अथवा योजना समिति के अयोग्य होने पर त्रुटियाँ होना स्वाभाविक है परन्तु तो भी यह निश्चित है कि पूँजीवाद के लाभ और विक्री के आधार पर बनी योजना से इस प्रकार की योजना कही अधिक अच्छी और सुचारु रूप से चलनेवाली होगी। ऐसी योजना मे यह तो कभी नही हो सकेगा कि देश मे, पाउडर, (Powder), स्नो (Snow), अथवा सुन्द्रतावर्धक अन्य पदार्थ बनते रहे और लाखों स्त्री पुरुष भोजन के अभाव से तड़प २ कर मर जावें, कपड़ा और निवासस्थान के अभाव से शीत सहे अथवा इसी प्रकार के अन्य कष्टों से लगातार दुःखी रहे।

उपरोक्त योजना में यह भी सम्भव नहीं होगा कि एक ही समय में शहर वासी रोटी के लिये तरसें और उसी समय किसान गेहूँ की उपज की अधिकता से उसे बेचने पर उपज का मूल्य तक न पाकर दुर्दशा को प्राप्त हो। ऐसा तो पूँजीवाद में ही होता है कि एक ओर किसान की अधिक उपज बड़े २ संघों द्वारा सस्ते भाव पर मोल लेली जाती है और दूसरी ओर भूख से पीड़ित देशवासियों को, उनकी माँगों की तीव्रता से लाभ उठा कर केवल लाभ के आधार पर महँगे भाव से बेची जाती है। संगठन शक्ति के अभाव, धन की कमी, और दरिद्रता से प्रेरित होकर और अपनी उपज की विक्री का दूसरा उपाय न पा कर, किसान उसे कम मूल्य पर ही बेचने को बिबश होता है। ठीक इसी प्रकार देशवासी भोजन की अधिक आवश्यकता होने, और अन्य उपायों से उसे प्राप्त न कर सकने पर, उस पदार्थ के लिये अधिक मूल्य देने को तय्यार होते है। पूँजीवाद में ऐसे आवश्यक पदार्थ अधिक लाभ उठाने के अभिप्राय से संघों द्वारा केन्द्रीय भूत कर लिये जाते है। परन्तु समाजवादी संगठन में यह सम्भव ही नहीं।

पदार्थों का क्रय मूल्य

त्रुटि रह जाने अथवा माँगों मे अन्तर पड़ने का फल यह होगा कि वर्ष के अन्त में कुछ पदार्थ शेष बचेंगे और किन्ही की संख्या घटेगी। अगले वर्ष योजना बनाते समय पिछले वर्ष के परिणाम का ध्यान रख-कर शेष बचनेवाले पदार्थों मे से उपजाऊ शक्तियों का प्रयोग हटाकर कमीवाले पदार्थों मे किया जावेंगे जिससे भविष्य में आवश्यक अनुपात ठीक रहे।

परन्तु महत्व की बात तो यह है कि संगठन में इस परिवर्तन का प्रभाव पदार्थों के क्रय मूल्य पर नहीं पड़ने दिया जाता। ऐसा नहीं होंने पाता कि कम पड़ने वाले पदार्थों का

मूल्य दिया जावे और इस प्रकार संख्या की कमी से लाभ उठाया जावे। और न अधिक उपज के पदार्थ के मूल्य को घटाकर उसे कम मूल्य पर बेचकर हानि को पूरा करने की चेष्टा ही की जाती। विक्री का मूल्य तो उपजके मूल्य (cost of production) पर ही आश्रित रहता है। क्रय मूल्यमे परिवर्तन तो योजना बनानेवालों के भली भाँति विचार और निश्चय के पश्चात् ही होता है।

पदार्थों के माँग मे कमी और बढ़ती के अनुसार पदार्थ के क्रय मूल्य मे परिवर्तन करना तो पूँजीवादी व्यवस्था का सिद्धान्त है उसी मे पदार्थों की माँग व विक्री के आधार पर क्रय मूल्य निश्चित होता है।

समाजवाद मे तो पदार्थ के मूल्य का निर्णय उसकी मांग और विक्री पर न रहकर, उसके उपज के मूल्य, समाज मे आवश्यकता और पदार्थ की सार्थता पर निर्भर रहता है और इन बातो मे परिवर्तन से ही उसके क्रय मूल्य मे परिवर्तन हो सकेगा। केवल माँग अथवा विक्री के घटने बढ़ने से नही।

परिणाम

अस्तु रिपोर्ट लेखकों ने यह एक बड़े महत्व का काम किया। इस प्रकार बजट बनाकर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि बड़े-बड़े उद्योगशाली देशों के लिये भी देशवासियों की माँगो का अनुमान हो सकता है। तथा इसके द्वारा यह स्पष्ट बता दिया कि समाजवादी संगठन की योजना किस प्रकार चल सकती है। तर्क शास्त्रों की बड़ी-बड़ी पुस्तके भी इसे इतना स्पष्ट न बता सकती।

रिपोर्ट व्यवहारिक रूप मे विस्तार पूर्वक सिद्ध कर देती है कि बड़े-बड़े और पेचीदा आर्थिक संगठन भी किस प्रकार प्रयोग के आधार पर हो सकते हैं और वर्तमान हानिकारक एवं घातक पूँजीवादी लाभ के आधार को हटाकर उद्देश्य की उपजाऊ शक्तियों का संगठन प्रयोग के आधार पर किया जा सकता है।

रिपोर्ट लेखकों को यह परिणाम भले ही अचानक प्राप्त हो गया हो। परन्तु अकस्मात ही सही, उन्होंने ऐसी संगठन की व्योहारिकता और उसकी सब से अधिक आवश्यकता का भली भाँति प्रदर्शन तो कर ही दिया, जिसे समाजवादी व साम्यवादी चाहते हैं। और ऐसा ही संगठन समाजवाद है।

योजना

——:o:——

उपजाऊ शक्तियों का बटवारा

——:o:——

गत परिच्छेद मे यह वताया जा चुका है कि समाजवादी संगठन मे आवश्यक पदो के बनने का अनुपात किस प्रकार निर्णय हो और योजना समिति भिन्न भिन्न पदार्थ की संख्या कैसे निश्चय करे। इसके अतिरिक्त समिति को एक वात का और भी निर्णय करना रह जाता है, कि किसी वर्ष मे देश की उपजाऊ शक्तियो का प्रयोग उपज के साधनों के वनाने मे किस अनुपात से हो। अथवा आवश्यक पदार्थ और साधनों के बनाने मे क्या अनुपात रहे।

जनता की आवश्यकता के पदार्थ, दूध, मक्खन, जूते, कपड़ा, घर इत्यादिक वे पदार्थ हैं जो सीधा मनुष्यों की आवश्यकताओ को पूरा करते हैं। इसके विपरीत उपज के साधन वे है जिनके द्वारा ये पदार्थ बनते है जैसे मशीन औज़ार इत्यादि अथवा वे पदार्थ जिनसे मनुष्यों की आवश्यकताएँ सीधे पूरी नही होती।

उपज के साधन

प्रत्येक समाज में दोनों प्रकार के पदार्थ वनना आवश्यक होता है। केवल आवश्यक पदार्थों के बनने से ही काम नहीं चल सकता।

और न केवल साधनों के बनाने से ही। क्योंकि यदि साधन न हुए, तो आगे पदार्थ बनना ही बन्द हो जावेगा। और इसी प्रकार यदि पदार्थ न बने, तो साधनों का बनना और होना व्यर्थ ही है। उदाहरण के लिये यदि मशीन और औज़ार ही बनाए जावें तो जनता भूखी मर जावेगी। और इस प्रकार यदि खाना कपड़ा, अथवा अन्य आवश्यक पदार्थ ही बनाये गये, तो साधनों के बिना बहुत दिनों तक वे बनते रह ही न सकेंगे और जनता को फिर उनके बिना रहकर कष्ट ही उठाना पड़ेगा।

देश की उपजाऊ शक्तियाँ एक पर्याप्त संख्या में इन मशीनों व औजारों के बनाने में लगाना पड़ेंगी ताकि वर्तमान मशीनों, औजारों तथा अन्य साधनों के घिस जाने या बिगड़ जाने पर उनके स्थान पर काम करने के लिये दूसरे प्राप्त रहें। और यदि सम्भव हो तो वर्तमान साधनों के स्थान पर नवीन प्रचलित ढंग की मशीनों का प्रयोग हो ताकि उपज में दिन प्रति दिन उन्नति होती जावे। परन्तु ऐसा तो तभी सम्भव होगा जब जनता के आवश्यक पदार्थों की उत्पत्ति में कमी हो। तभी तो इस प्रकार बची हुई सामग्री साधनों के बनाने में लगाई जा सकेगी।

किसी देश अथवा समाज में, मजदूरों की संख्या, संगठनशक्ति तथा आवश्यक सामग्री एक निश्चित संख्या में ही होती है। उनका चाहे पदार्थ बनाने में प्रयोग हो अथवा साधन उत्पन्न करने में। एक ही समय में दोनों प्रकार में प्रयोग हो ऐसा सम्भव नहीं। इसी लिये यह आवश्यक है कि इस बात का पहिले से ही निर्णय हो जावे कि कौन सा व्यक्ति कौन सा काम करे और कौन से पदार्थ, कितनी संख्या में बनें तथा इन पदार्थों की उत्पत्ति और उपजाऊ शक्तियों के प्रयोग में अनुपात क्या हो।

ऐसी स्थिति में समाज के सन्मुख यह प्रश्न उपस्थित होता है कि देश की उपजाऊ शक्तियां इन दोनों कामों में किस प्रकार बाँटी जावें दूसरे शब्दों में, यह निर्णय करना है कि भविष्य में अधिक माँग पूरा

करने के प्रबंध के लिये वर्तमान माँगों और उनके अनुसार बनने वाले पदार्थों में कितनी कमी की जावे और इस प्रकार किस अनुपात से वर्तमान पदार्थ तथा मशीने इत्यादि बनें।

बटवारा

उपजाऊ शक्तियों की बृद्धि चाहने वाले प्रत्येक समाज को उपरोक्त दोनों प्रकार के कामों में देश की शक्तियों का बटवारा करना होगा चाहे किसी भी प्रकार का संगठन क्यों न हो। पूँजीवाद व समाजवाद दोनों में ही ऐसा बटवारा आवश्यक है। बटवारे के भाग और अंगों में भिन्नता आवश्य है। कुछ का कहना है कि जनता के वर्तमान आवश्यक पदार्थ बनाने से केवल उतनी ही उपजाऊ शक्तियाँ मशीन इत्यादि बनाने मे लगाई जावे जिससे वे भविष्य के लिये ठीक रह सके अथवा बिगड़ जाने पर बदली जा सके। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि जनता के आवश्यक पदार्थ बनाने मे केवल उतनी ही शक्तियों का प्रयोग हो जिससे मनुष्य केवल जीवित भर रह सके। शेष सब शक्तियों का प्रयोग उपज के साधनों के बनाने (Means of Production) मे ही हो।

इस प्रश्न पर यह दोनों अन्तिम सीमाएँ हैं वास्तविक निर्णय तो बीच का ही हो सकेगा। देखें पूँजीवाद में इस प्रश्न का क्या उत्तर है और इसका कैसे निर्णय होता है।

पूँजीवादी संगठन के समर्थकों का यह कहना है कि पूँजीवाद मे यह प्रश्न इस रूप में रहता ही नही। वह तो एक दूसरे ढंग से ही सुलझ जाता है। पूँजीवाद मे उपजाऊ शक्तियों का उपरोक्त दोनों कामों मे बटवारा, और उसका अनुपात, मनुष्यों के धन संचय और व्यय शक्ति के अनुपात पर निर्भर रहता है। जितनी ही अधिक व्यय शक्ति मनुष्यों मे होगी आवश्यक पदार्थ बनने की संख्या उतनी ही अधिक रहेगी। और जितना धन वे संचय करेंगे, उतना उपज के साधनों को उत्पन्न करने मे लगेगा, क्योंकि क्रय शक्ति की बृद्धि के साथ उनकी मागों

में वृद्धि और उनके लिये अधिक मूल्य देने को तत्पर होवे जिस से उन पदार्थों के बनाने वालों को लाभ हो और वे इस लाभ के प्रोत्साहन से अधिक संख्या में इच्छित पदार्थ बनावें । इसके विपरीत जितना अधिक धन संचय होगा, उतनी ही उपज के साधनों की वृद्धि होगी। क्योंकि जो रुपया वे संचय करेंगे उसे व्यर्थ तो फेंक नहीं दगे और न उसे सुस्त पड़ा ही रहने देंगे। वह किसी न किसी काम में ही लगेगा। और काम में लगाना ही, उपज के साधनों का उत्पन्न करना है। उदाहरण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

मानलो किसी व्यक्ति ने १००) संचय किया और उससे किसी एक विद्युत कम्पनी के शेयर मोल लिये। जिसके अर्थ यह होते है कि खाना कपड़ा इत्यादिक आवश्यक पदार्थों की बिक्री कम हुई तभी तो इतना रुपया बच सका। दूसरी ओर इस धन से विद्युत कम्पनी के पूँजी की वृद्धि हुई और व्यक्ति विशेष को कम्पनी मे इतने रुपये भर स्वामित्व मिला और उसके द्वारा लाभ। इस प्रकार बचत के अनुपात से पदार्थों के बनने में कमी और उपज के साधनों में वृद्धि हो जाती है।

धन संचय जितना अधिक होगा, क्रय शक्ति उतनी ही घटेगी और उसी अनुपातसे आवश्यक पदार्थों की उपज भी घटेगी। इसके विपरीत उपज के साधनों में उतनी ही वृद्धि होगी। और इस प्रकार लाभ के आधार पर उपजाऊ शक्तियाँ पदार्थों से हटकर धीरे धीरे साधनों में लगने लगेगी बचत और व्यय के अनुपात से यह समस्या सुलझी सी प्रतीत अवश्य होती है परन्तु ठीक ढङ्ग पर नहीं और न किसी निश्चित आधार पर ही। ऐसी व्यवस्था पूँजीवादी विचार धारा के भी विरुद्ध है। पूँजीवाद समर्थकों का तो यह दावा है कि पूँजीवाद में सब प्रश्न प्राकृतिक नियमों से ही सुलझ जाते हैं व्यक्ति विशेष द्वारा अथवा समाज का उन पर कोई अधिपत्य नही होता और न उनके निश्चयों पर ही वह आश्रित रहती है। परन्तु वास्तव में क्रय

और संचय का निर्णय भी तो मनुष्य ही करते हैं। और उसका अनुपात उनके निश्चयों के अनुसार ही तो होता है।

फिर इन निर्णयों को भी व्यक्ति विशेष पर न छोड़ कर सम्पूर्ण समाजपर ही न डालें और उसी के द्वारा देश भर के लिये निर्णय न करालें। अथवा दूसरे शब्दो मे योजना बनाने वालो से ही इस बात का निर्णय करालें क्योकि योजना समिति की नियुक्ति भी समाज ही करेगा।

अस्तु, पिछले परिच्छेद के उदाहरण मे योजना समिति को अब केवल इतना ही निश्चय नहीं करना है कि लोहे की उपज का कितना भाग निवास स्थान तथा गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के बनाने में लगे वरन उन्हें इसका भी निर्णय करना होगा कि किस अनुपात से लोहा इन पदार्थों मे पड़ेगा और कितना मशीनों इत्यादि मे उपज के साधनों के बनाने अथवा बनवाने मे लगे क्योंकि उनही के द्वारा फिर अधिक लोहा बन सकेगा।

१६२६ का आधार

योजना समिति ने इस प्रश्न को भी बड़ी सरलता से समझाया। उन्होंने सन् १६२६ ई० को ही इसका भी आधार बनाया। इस वर्ष के आकड़े लेकर उन्होने यह सिद्ध किया कि उपजाऊ शक्तियों का जितना प्रयोग सन् १६२६ ई० मे साधनों के उत्पन्न करने मे लगा है यदि उतनाही भविष्य मे भी लगता रहे अर्थात् यदि अमेरिकावासी अपने उपज के साधनो की वृद्धि और उन्नति प्रति वर्ष इतनी ही करते रहे तौ भी उनकी आय। (सन् १६२६ के मूल्य के) आधार पर २०० पौंड से ६१५ पौंड हो सकती है।

यह वर्ष तो केवल उदाहरण के लिए ही मान लिया गया था। परन्तु यह आवश्यक नही कि अमेरिका, ब्रिटैन अथवा किसी अन्य देश

के लिए योजना बनाते समय इसी वर्ष को ही आधार माना जावे। अथवा प्रति वर्ष का उतना ही अनुपात रक्खा जावे। अनुमान घटाया अथवा बढ़ाया भी जा सकता है। अनुपात घटाने पर जन साधारण के आवश्यक पदार्थों में बृद्धि और बढ़ाने पर उसमें उतनी ही कमी हो जावेगी ।

यह तो विशेष महत्व की बात नहीं, कि यह अनुपात क्या हो। परन्तु प्रत्येक समाज के लिए यह परमावश्यक है कि अनुपात का अन्तिम निश्चय उसके हाथ में रहे। अनुपात के निश्चय को लाभ के अन्ध बिश्वासी आधार पर छोड़ देना ही समाज की वर्तमान दुर्दशा का एक मुख्य कारण है ।

ब्रिटेन, अमेरिका तथा अन्य उन्नति शाली पूँजीवादी देशो के लिये इस अनुपात के निश्चय करने मे अधिक कठिनाई नहीं। वहाँ तो मशीनें तथा अन्य साधन प्रर्याप्त संख्या मे है ही। उनका काम तो देश की उपजाऊ शक्तियों का अधिकतर प्रयोग जनता की आवश्यक मांगों को पूरा कराने का ही है जिसकी ऐसे देशों मे बहुत कमी है। और यदि किसी समय उन्हे इन साधनों के उत्पन्न कराने की आवश्यकता हुई तो वह तो बड़ी सरलता से हो सकेगा । जन साधारण के रहन सहन मे विशेष कमी भी न करनी पड़ेगी। अधिक से अधिक रहन सहन की बृद्धि को थोड़े समय के लिये रोक देना होगा।

पिछड़े हुए देश

परन्तु पिछड़े हुए देशों के लिये जिनमें उद्योग धन्धे पूरी तरह विकसित नहीं, इन प्रश्नों के निश्चय करने में अधिक कठिनाई पड़ती है। ऐसे देशों मे या तो उद्योगिक उन्नति बहुत धीरे धीरे हो अथवा समाज अपनी माँगो के परमावश्यक पदार्थों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में प्रयाप्त कमी करे। तभी वह मशीनों व कारखानों इत्यादि को अधिक उपज के साधन बनाने में प्रयोग करा सकते है ।

जैसा कि प्रायः सभी कामो मे होता है इस उन्नति में भी प्रारम्भ मे कठिनाई पड़ेगी। क्योंकि प्रारम्भिक काल मे उपजाऊ शक्तियां ही कम होती हैं चाहे उनका प्रयोग माँगों के पूरा करने मे हो चाहे साधन उत्पन्न करने मे। स्थिति को सँभालने के लिये ऐसे समय मे यह ही आवश्यक होगा कि शक्तियों का अधिक प्रयोग पुरानी मशीनों को हटाकर उनके स्थान पर नई मशीनों के लाने मे हो। चाहे जन साधारण को कुछ समय के लिये क्लेश ही क्यों न उठाना पड़े। अशिक्षित मजदूरों के स्थान पर शिक्षित और पुराने ढग की मशीनों के स्थान मे वर्तमान नए ढंग की उन्नतिशाली मशीनें ही रखना पड़ेगी। अन्यथा उपज दिन प्रति दिन घटती ही जावेगी और देशवासियो को क्षणिक सुख के वदले निरन्तर कष्ट ही भोगना पड़ेगा। ऐसी स्थिति मे उपजाऊ शक्तियों का अधिकतर प्रयोग साधनों को उत्पन्न अथवा प्राप्त कराने में ही होना लाभदायक होगा ताकि उनके द्वारा जनता की माँगों के आवश्यक पदार्थ अधिक संख्या मे कम मूल्य पर प्राप्त हो सके। पिछले उदाहरण मे पुरानी लोहे की मशीनो से छोटे छोटे घर अथवा बड़ी बड़ी अट्टालिकाये न बनवाकर लोहा इत्यादि बनाने की मशीनें बनाई जावेगी। जो थोड़े बहुत इन्जीनियर (विशेषज्ञ) हों उन्हे उद्योगशालो से हटाकर विद्यार्थियो को शिक्षित करने का काम सौंपा जावे ताकि ऐसे विशेषज्ञों की आवश्यक संख्या पूरी हो। 'रेल के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान जनता की माँगों के पदार्थ न भेज कर' ऐसी कले इत्यादि के बनाने की सामग्री भेजी जायगी।

रूस का उदाहरण

पुराने पिछले देशों में रूस (Russia) एक जीता जागता उदाहरण है। यहाँ के योजना निर्माताओं को समय २ पर ऐसी ही कठिनाइओ का सामान पड़ा। और वास्तवमे यही हो इस प्रकार की योजना बनी भी है। साधन अथवा पदार्थ के अनुपात का प्रश्न सदैव उनके सामने रहा। एक ओर तो जनता के स्वास्थ और सुविधा का ध्यान कि कहीं पदार्थों की कमी से देश वासी भूखे और नङ्गे न रहे

दूसरी ओर राजनैतिक और पर राष्ट्रीय आर्थिक विचार विवश करते थे कि शीघ्राति शिघ्र देशकी उद्योगिक उन्नति हो। ताकि कहीं विदेशियों के हस्तक्षेप से सामाजिक संगठन ही नष्ट भृष्ट न हो जावे। सामग्री तथा शक्ति कम थी परन्तु तो भी उनका प्रयोग, सर्वप्रथम उद्योगिक उन्नति में ही करना पड़ा। प्रारम्भ मे इस नीति से क्लेश भी हुआ। परन्तु धीरे २ ज्यो २ उन्नति होती गई, इस प्रकार के कलेष से छुटकारा मिलता गया यहाँ तक कि सन् १६३५ ई० मे उनके पास शक्तियाँ बच रहीं। जिनका वे किसी प्रकार प्रयोग न कर सकते थे।

एक बड़ा भ्रम

परन्तु इस सम्बन्ध में भी कुछ मनुष्यों को ऐसा भ्रम है कि उद्योगिक उन्नति हो जाने पर समाजवादी सगठन में भी उपज के बटवारे इत्यादि में वे ही कठिनाइयाँ पड़ेगी जो पूँजीवाद में।

पूँजीवाद में प्रायः ऐसा देखा गया है कि बने हुए पदार्थ जनता तक पहुँच नही पाते। उनके बिना ही रहना पड़ता है। कुछ अवसरों पर तो बने हुए पदार्थों का बटवारा करने के स्थान पर उन्हे नष्ट भी कर दिया जाता है। वे जला दिये जाते हैं। ऐसे मत वालों का कहना है कि रूस में भी उद्योगिक उन्नति हो जाने पर आवश्यक पदार्थ अधिक संख्या में बनेंगे। वहाँ भी पदार्थों की अधिकता होगी बेकारी बढ़ेगी, और उन्हे भी गेहूँ; कपड़ा, इत्यादि आवश्यक पदार्थ जलाना पड़ेगा तथा जनता उनके बिना नंगी और भूखी मरेगी।

परन्तु ऐसे मतदाता यह भूल जाते हैं कि बने हुए पदार्थों का बटवारा न हो सकने का कारण यह नही है कि ऐसे पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँच नही सकते अथवा जन साधारण तक पहुँचाए नहीं जा सकते। वरन वास्तविक कारण यह है कि लाभ के साथ इनकी विक्री नहीं हो पाती। दूसरे शब्दों मे पदार्थों की अधिक संख्या में उपज होने से उनका क्रय मूल्य घट जाता है। और उन्हे बनाने वालों को उन पदार्थों के बेचने में उतना लाभ नही होता।

इसी कारण वे या तो अधिक संख्या मे इस प्रकार के पदार्थ बनाते ही नहीं और यदि बन जाते हैं तो उन्हे नष्ट कर देते है। पदार्थों का ठीक बटवारा न हो सकना, इस प्रकार के आर्थिक संगठन का ही परिणाम है जो समाजवादी ढंग मे होही नही सकता।

एक स्थान से दूसरे स्थान न पहुँच सकने के कारण भले ही कुछ पदार्थ जनता के पास पहुँचने से रुक जावे, परन्तु उपज की अधिकता के कारण, यह नही हो सकता, समाजवादी संगठन मे कभी भी ऐसा नही हो सकता कि पदार्थ अधिक संख्या मे हो उनके एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने के साधन भी प्रयाप्त हो, परन्तु तौ भी, जनता को उनके विना ही रहना पड़े। ऐसा तो पूँजीवाद ही मे है जहॉ लाभ ही मुख्य आधार है और वे ही पदार्थ बनाए जाते है जिनकी विक्री से लाभ हो।

समाजवादी संगठन मे अन्य कठिनाइयॉ भले ही हों, परन्तु उसमे पदार्थों की विक्री मे कोई कठिनता नहीं होती। बने हुए पदार्थ बिक सभी जाते है। केवल योजना निर्माताओं को यह ध्यान रखना पड़ेगा किसी वर्ष मे बने हुए सब पदार्थ निश्चत मूल्य पर विक्री के लिये रहे, और जनता के पास प्रयाप्त धन हो। इस प्रकार सामाजिक संगठन मे पदार्थों की विक्री कीएक ही सीमा है। और वह है जनतकी वास्तविक माँग। यदि माँगही नही है तब तो अवश्य वह पदार्थ बच रहेगा और अगले वर्ष उसकी उपज कम करना होगी। परन्तु न तो उसका मूल्य ही घटेगा और न अन्य वस्तुओ का बढ़ेगा। जिनकी माँग अधिक है।

पूँजीवादी देशों की दशा

लगभग प्रत्येक पूँजीवादी देश को इस समय अपने देश की बनी वस्तुओं को बेचने के लिये विदेशी बाज़ार ढूढ़ना पड़ रहे है। जहाँ वे लाभ के साथ उन पदार्थों को बेच सकें। इस लिये नही कि

वहाँ के देश वासियों के पास प्रयाप्त संख्या में आवश्यक पदार्थ है और उन्हे उनकी आवश्यकता नहो। वरन उनको उनके मूल्य देने की शक्ति नहीं और वे उनके बिना ही रहने को विवश होते है। प्रायः ऐसा भी किया जाता है कि किन्हीं पदार्थों का मूल्य अपने देश मे बहुत अधिक कर दिया जाता है ताकि वे अन्य देशो मे कम मूल्य पर बेचे जा सके। और विदेश मे उनकी विक्री से होने वाली हानि इस प्रकार देश वासियों से पूरी की जाती है मूल्य न दे सकने के कारण उनकी रहन सहन दिन प्रति दिन घटती जाती है। बड़े २ कारखानों में काम करने वाले मजदूर छोटे छोटे कमरों में तीन तीन व चार २ एक साथ रहते है। उनके भोजन, शिक्षा तथा स्वास्थ का भी समुचित प्रवन्ध नहीं। बेचारे काम करनेवालो को तंग आकर आये दिन हड़ताल इत्यादि करना पड़ता है।

इसके विपरीत समाजवादी संगठन वाले देश रूस में सबसे बड़ा प्रश्न देशवासियोंकी माँगों को पूरा करने का है।

जार के समय मे रूस बासियों के पास केवल एक या एक से कम कमरे वाले घर थे और उन्ही में अधिकतर जनता रहती थी। भोजन और कपड़े की सामग्री भी बहुत कम थी। शिक्षा, स्वास्थ सम्बन्धी सुविधाएँ भी प्रयाप्त न थी न अधिक अध्यापक थे और न डाक्टर ही। पुस्तकालयों तथा बाचनालयों का भी अभाव था।

संसार के $\frac{1}{6}$ भाग के मनुष्यों की यह सब माँगें कैसे पूरी हों, रूस के योजना समिति के सामने यह एक बड़ी समस्या थी। देश की उद्योगिक उन्नति भी ऐसी न थी और न पूरी आवश्यक सामग्रियाँ ही प्राप्तथी। परन्तु तोभी वे निराश नही हुए और अपने निर्धारित कार्यक्रम पर चलते रहे। जिसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९३५ ई० में उनके पास आवश्यक पदार्थ की संख्या इतनी अधिक हो गई जितनी रूस के इतिहास मे इसके पूर्व कभी भी न रही होगी। दूकानों मे इन पदार्थों की अधिकता हुई। कार्ड रीति हटा कर फुटकर मे बिक्री का प्रबन्ध किया गया।

इस उन्नति का बिशेष विवरण श्रीमती तथा श्रीमान सेड्नी वेब की साम्यवादी रूस नई सभ्यता तामक पुस्तक (Soviet Communism: A new civilization by Mrs, and Mr. Sydney Webb) से मिलता है। उनका कहना है कि उद्योगिक उन्नति होने से सामाजिक संगठन मे कठिनाइयाँ होगी, यह एक भ्रम है और उसे दूर हो जाना चाहिए। देश की उपजाऊ शक्तियों को बढ़ाने से प्रारम्भ मे लाभ, और उनके उन्नति हो जाने पर किसी देश को हानि हो, यह तो भ्रमात्मक तथा आश्चर्यजनक बात है। परन्तु तौ भी किन्हीं भानों मे उद्योगिक उन्नति के प्रारम्भिक काल में पूँजीवादी संगठन अधिक उपयुक्त रहता है क्योंकि उससे उपज के साधनों की उन्नति के साथ साथ, वैयक्तिक परिश्रम से पूँजीपति पदार्थ अधिक संख्या मे उत्पन्न कर लेते हैं। परन्तु उसके पश्चात् समाजवादी संगठन उससे भी अधिक आवश्यक है क्योंकि पदार्थ उत्पन्न हो जाने पर देशवासियों को बने पदार्थों का भोग भी मिलना चाहिए। जो पूँजीवाद में भली प्रकार नहीं हो पाता और जिसके लिए समाजवाद विशेष उपयुक्त है। इसी कारण उद्योगिक उन्नति भले ही प्रारम्भ मे पूँजीवाद के आधार पर हो और ऐसा होने मे थोड़ी सुविधा भी हैं। परन्तु ऐसी उन्नति हो जाने पर जब कि पदार्थ प्रर्याप्त संख्या में उत्पन्न हो सकते हैं समाजवादी संगठन अत्यन्त आवश्यक है और उसके विना देशवासी तथा समाज सुखी रह ही नहीं सकता।

प्रचलित समाजवादी ढंग

रूस का इतिहास

समाजवादी संगठन के भली भाँति चल सकने का अधिक प्रत्यक्ष प्रमाण रूस के उदाहरण से मिलता है। जहाँ लगभग १० वर्ष से इस प्रकार का संगठन चल रहा है और करोड़ों देशवासी इस आधार पर रहकर अपने जोवन सुख पूर्वक व्यतीत कर रहे हैं। रूस में किस प्रकार कार्य चलता है, इसका जानना और समझना इस समय अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यदि रूस में इस प्रकार का प्रयत्न सफल होता है तो न केवल संसार की बढ़ती हुई बेकारी और व्यापारिक उथल पुथल से होनेवाली समाज की दुर्दशा ही रोकी जा सकती है, वरन् इससे जन समाज की सम्पूर्ण शक्तियों का पूरा पूरा प्रयोग भी हो सकेगा और प्रत्येक देशवासी की आय तथा रहन सहन में प्रर्याप्त बृद्धि हो जावेगी। संक्षेप में संसार की कठिनाइयाँ और क्लेश दूर करने का सरल उपाय मिल जाता है। अब देखना यह हैं कि ऐसा संगठन क्या सदैव स्थिर रह सकता है ?

पूँजीवादी नीतिज्ञों का यह कहना है, कि भले ही किन्हीं कारणों से इस समय थोड़ी सफलता रूस में हो गई हो। परन्तु ऐसा संगठन बहुत दिनों चल ही नहीं सकता और अन्त में फिर पूँजीवाद के ही आधार पर संसार को चलना पड़ेगा। देखें, कहाँ तक उनका कहना ठीक है ?

प्राचीन इतिहास

कई कारणों से १६२८ ई० तक सोवियट रूस का आर्थिक संगठन नियमित उपज के आधार पर किया ही नही जा सकता। इस ओर सब से पहिला काम उस समय से प्रारम्भ होता है जब कि सोवियट रूस में प्रत्येक संस्था से शासन योजना समिति को गत वर्ष की उपज, सामग्री की खपत, मजदूरों की संख्या इत्यादिक सम्पूर्ण सूचना भेजने को कहा गया, और अगले वर्ष की प्रस्तावित उपज के सम्बन्ध मे आवश्यक आकड़े माँगे गये। केन्द्रीय समिति के पास इस प्रकार के आंकड़े जमा होना ही संगठन का प्रथम पद है। नियंत्रित उपज की व्यवस्था के लिए यह परमावश्यक भी है।

ऐसे असंख्य आकड़ों का पूरा प्रयोग करने और उसकी जांच व छांट करने के लिए एक विस्तृत प्रबन्ध की आवश्यकता थी। समिति के पास इस प्रकार के सहस्त्रों आंकड़े आए और सम्भवतः इसी कारण सन् १६२८ ई० के पूर्व सोवियट रूस मे इस प्रकार की नियमित उपज की योजना नही बनाई जा सकी। परन्तु तो भी इस वर्ष रूस की शासन योजना समिति जो गोज़प्लान (Goz plan) के नाम से विख्यात हैं, संसार के आवश्यक तथा विस्तृत आकड़ो का मुख्य केन्द्र हो गई थी।

योजना का काम

आँकड़े जमा हो जाने पर, योजना का काम प्रारम्भ हुआ। बहुतों का ऐसा विचार है कि समाजवादी संगठन में महत्व पूर्ण आर्थिक यिषयों का निर्णय शासन योजना समिति स्वयं ही मनमाने कर देती है। परन्तु वैसा है नहीं, इन निर्णयों मे उपज की संस्थाओं को विवश तो नहीं किया जाता। परन्तु प्रायः सभी महत्व पूर्ण विषयों पर उनकी राय ली जाती है। अगले वर्ष उपज कितनी हो, उसके लिए किन किन सामग्रियों की आवश्यकता होगी इन प्रश्नों के उत्तर पर ही योजना का

ढांचा बनता है। ढांचा केवल एक व्यक्ति अथवा संस्था के उत्तर पर ही आश्रित नहीं रहता वरन् लगभग देश को प्रत्येक ऐसी संस्था के उत्तर पर जिनके द्वारा पदार्थ इत्यादि बनते है। और वह भी उनके गत वर्ष के आधार पर—

परन्तु इस पर भी हो सकता है कि ढाँचे में त्रुटियाँ रह जावें। और ऐसा हो जाता है। किसी विशेष धन्धे मे नियत संख्या से अधिक सामग्री हो जावे। अथवा किसी एक ही धन्धे मे भिन्न-भिन्न पदार्थों को सामहिक माँग उस धन्धे के लिए निश्चित संख्या से कभी बढ़ भी जाती है। और इसी कारण योजना समिति को यह ढांचा ठीक और नियमानुसार बनाना पड़ता है। वे जांच करते हैं कि प्रत्येक पदार्थ की मांग उसकी निश्चित संख्या के बराबर रहे।

आवश्यक पदार्थों की उपज निश्चित संख्या के बराबर रखना और उसे नियमानुसार सम्बन्धित करना जन साधारण की आवश्यक मांग को पूरा कराने के लिये प्रथम कार्य्य है और ऐसा हो जाने पर एक निश्चित ढांचा बन जाता है। यह ढांचा उपज संस्थाओ द्वारा ही बनता है।

उपज सहयोगी समितियां

यह उपज की संस्थायें कौन सी है। यह जानना आवश्यक है क्योंकि समाजवादी संगठन के यह एक विशेष अंग है। ऐसी संस्थायें विशेषतया तीन भागों मे विभाजित की जा सकती है:—

(१) सरकारी: इनमे सीधी सरकारी व म्युनिसिपलबोर्ड की संस्थायें हैं। उद्योग धन्धो मे विशेष कर ऐसी ही संस्थाये अधिक हैं और लगभग ६६० प्रति शत उपज उन्हीं के द्वारा होती हैं।

(२) जन सहयोगी समितियाँ (Consumers Cooperative Societies) यह समितियाँ ब्रिटेन तथा अन्य पश्चिमी योरुप के देशों की समितियो की ही भाँति है। अन्तर केवल इतना है कि रूस की

समितियो में सदस्यो के पदार्थों की विक्री पर कमीशन धन के रूप मे नही दिया जाता । ऐसी संस्थाओं का मुख्य कार्य उत्पन्न पदार्थों का बटवारा अथवा फुटकर विक्री ही रहता है। पदार्थ के उपज में इनका काम नही के समान ही है । बृटेन तथा अन्य पूँजीवादी देशों में यह संस्थाये उपज के क्षेत्र में भी पहुँच गई हैं । और उसमें भी अपना ही आधिपत्य रखना चाहती हैं ।

(३) तीसरे प्रकार की संस्थाएँ उपज सहयोगी समितियां (Producer Cooperative Societies) हैं । यह स्वयं कार्यकर्ताओं की समितियां हैं जो अपना एक दल बनाकर उपज के साधन और सामग्रियों का स्वामित्व करते हैं । वे सरकारी कारखानों में काम करनेवाले मज़दूरों की तरह केवल वेतन पर ही काम नही करते। इन कार्यकर्ताओं को वेतन नही मिलता वरन् उसके स्थान पर कमीशन अथवा लाभ का एक भाग मिलता है। जो उसके सदस्यों के काम की विक्री से प्राप्त होता है और ,उत्पन्न हुए पदार्थों की विक्री का एक भाग होता है। उन्हे वेतन क्यो मिले क्योंकि वे तो स्वयं अपने स्वामी होते हैं किसी के नौकर नही।

ऐसी संस्थाएँ विशेष कर कृषि धन्धे मे है । वाल्टिक सागर (Baltic Sea) से पैसफिक महा सागर (Pacfic Ocean) तक के लम्बे चौड़े मैदान के सामूहिक खेत (Collective farm) इन्ही समितियों के आधीन हैं । परन्तु इन संस्थाओं का काम कृषि पर ही सीमित नहीं। अन्य उद्योग धन्धों मे भी इनके काम का महत्व है। कारीगर सहयोगी समिति (Artisans Cooperative Society) के भी सहस्त्रों सदस्य हैं । जो छोटे ,छोटे घरेलू धन्धों और पदार्थों को बनाती हैं ।

परन्तु इससे यह भी न समझना चाहिए कि कृषि व्यवसाय का पूरा पूरा आधिपत्य (monoply) इन्ही संस्थाओ मे है। इनके अतिरिक्त लगभग १०,००० सामूहिक क्षेत्र सीधे सरकार के आधिपत्य मे

भो हैं जिनमें मज़दूर ठीक उसी प्रकार वेतन पर काम करते हैं जैसे किसी कार्यालय मे।

यह उपज सहयोगो समितियाँ ऐसी आथिक संस्थायें हैं जो पूँजीवाद के समय के अन्त से ही रूस मे स्थापित है और बराबर काम करती है। इन्हे स्थापित हुए लगभग २० वर्ष से अधिक व्यतीत हो गये परन्तु केवल छः वर्षों से देश के आथिक जीवन में उनका विशेष महत्व रहा है। इस बोच में लगभग ढाई लाख सामूहिक खेत सहयोग उपज के आधार पर बन गये थे। परन्तु उन पर काम होना तो बहुत बाद में ही प्रारम्भ हुआ और इस प्रकार एक पुराना रिवाज फिर से चालू हुआ है।

मज़दूरों का एक दल स्वयं उपज के साधनों का स्वामी हो, उस पर पूरा आधिपत्य रक्खे, उनके द्वारा जन साधारण की मांगों के पदार्थ बनावे, तथा उन्हे बेंचकर बिक्री के मूल्य का परस्पर बटवारा कर ले, ऐसा ही उद्देश्य प्रारम्भ मे पश्चिमी यूरुप के लगभग सभी समाजवादियों का रहा है।

१६ वीं शताब्दी में बृटेन, फ्राँस, अमेरिका इत्यादिक सभी देशों में इस प्रकार की संस्थाओं और समितियों को स्थापित करने की चेष्टा की गई। परन्तु उन्हे इस कार्य में विशेष सफलता नहीं मिली और मज़दूर इस ढंग से पूँजीवाद से छुटकारा पाने से निराश से ही हो गये। अपना स्वयं संगठन करके पूँजीवाद से मुक्त हो सकेंगे ऐसी उन्हे आशा न रही थी। परन्तु रूस के उदाहरण ने उन्हे फिर स्वयं संगठन की सार्थता का विश्वास दिलाया। उनका उद्देश्य ठीक है। वे भली भाँति चल भी सकती है।

परन्तु उनके सुचारु रूप से चलने के लिये समाजवादी वातावरण की आवश्यकता है। पुराने समाजवादी नेता जिन्होंने प्रारम्भ में ऐसी स्वतन्त्र सहयोगी समितियां स्थापित करने की चेष्टा की थी, उन की धारणा में तो कोई त्रुटि नही। केवल उनका ऐसा विचार

था कि सम्भवतः ऐसी समितियाँ पूँजीवादी वातावरण तथा पूँजी-वादियों के हाथ में शासन की वागडोर रहते हुये भी चल सकती है। सहयोगी संस्थाओं के भली भांति कार्य्य करने के लिये यह आवश्यक है ही भ्रम पूर्ण था कि देश के बड़े बड़े उद्योग धन्धे समाजवादी ढंग पर संगठित हों। और राजनैतिक अथवा आर्थिक कोई भी वागडोर पूँजी-पतियों के हाथमें न रहे। समाजवादी वातावरण के अभाव से निस्संदेह इनके काम में कठिनाइयाँ पड़ेगी।

योजना समिति का काम

शासन योजना समिति का यही काम है कि वह इन आर्थिक संस्थाओं के कार्य और उनकी माँगो को नियमित करे। इनके निर्णयों की जाँच करे तथा शासन द्वारा बनाई गई योजनासे उनका मिलान करे। शासन को आथिक समस्याओं के साथ अन्य कामों का भी ध्यान रखना पड़ता है। उनके सन्मुख देश के धन की बृद्धि के अतिरिक्त अन्य जटिल समस्याएँ और भी रहती है जैसे देश की रक्षा इत्यादि। देश के चारो ओर पूँजीवादी वातावरण रहने से रूस को सततर उन देशों से अपनी रक्षा की चिन्ता रहती है, और इसी कारण योजना समिति को आथिक संगठन के साथ ही साथ रक्षा की सामग्री बनवाने के प्रबन्ध का भी ध्यान रखना पड़ता है। सहयोगी समितियों द्वारा प्राप्त प्रस्तावित योजना में अन्य विचारों के कारण आवश्यक संशोधन करने की आवश्यकता होती है। देश की सभ्यता और रहन सहन की बृद्धि का भी विचार रहता है ताकि देश वासियों को आवश्यक पदार्थों के अभाव से कष्ट न झेलना पड़े। बिद्यालय, पुस्तकालय, वाचनालय इत्यादि का समुचित प्रबन्ध, डाक्टर, औषधालय, परीक्षा के यन्त्र इत्यादि स्वास्थ सम्बन्धी अन्य पदार्थ, और सबसे अधिक इस बात का ध्यान कि अगले वर्ष उपज के साधन बनाने वाले धन्धों की बृद्धि।

शासन का मत मिल जाने पर प्रारम्भिक योजना बन जाती है। परन्तु रूस की केन्द्रीय समिति उसे ही स्वीकार नही कर लेती और न

उस के अनुसार आदेश ही देती है। यह प्रारम्भिक योजना शासन के प्रत्येक विभाग को भेज दी जाती है और वे उसे सम्बन्धित उपज को संस्थाओं के पास विचारार्थ भेज देने हैं। इस काम के लिये योजना कई भागों में विभाजित की जाती है। और प्रत्येक विभाग अपने अपने विषय की विस्तारपूर्वक गम्भीरता से आलोचना करता है। केवल यह ही नही कि उसकी जाँच कार्यालयों में काम करने वाले अथवा आकड़ों का ज्ञान रखने वाले ही करते हों वरन यह योजना सब हाथ और मास्तिष्क से काम करने वाले मज़दूरों को दिखाई जाती है। कार्यकरताओं के सम्मेलनों में उसपर वाद विवाद होता है तथा उसके फलस्वरूप योजना में आवश्यक संशोधन कर दिये जाते हैं।

ऐसे संशोधनों और सुधारों के साथ यह योजना दोबारा शासन योजना समिति के पास भेजी जाती है ताकि और वे एक बार फिर सब बातों को जाँच लें। कोई परस्पर विरोधी संशोधन न रहे।

इस सब जाँच का परिणाम ही निश्चित और अन्तिम योजना के रूप में आता है। इसके पश्चात यह योजना जनता के चुने प्रतिनिधियों की कौंसिल और सोवियटरूस की केन्द्रीय कार्यकारिणी के सम्मुख रक्खी जाती है जोकि रूस का मंत्रिमण्डल व्यवस्थापिका सभा, अथवा काँग्रेस है। उसके द्वारा स्वीकार हो जाने पर यह देश का नियम हो जाता है।

व्यक्तिगत स्वामित्व तथा उपज में लाभ और परस्पर प्रतिद्वन्दता के आधार का अन्त हो जाने पर ऐसे निश्चित आदेशों की आवश्यक्ता हो हो जाती है कि किस किस संख्या में किस किस पदार्थ को बनाना है। ऐसे ही आदेश निश्चित योजना के संगठन मे दिये जाते हैं। और वे ही सरकारी नियम हो जाने हैं। परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है यह नियम सरकार अपने मनमाने नही बना देती वरन स्वयं उपज की संस्थाएँ अपने प्रस्तावों द्वारा इसे प्रास्तावित करती है और

शासन द्वारा स्वीकार हो जाने पर उन्हीं के अनुसार काम भी किया जाता है।

योजना पर काम

सरकारी संस्थाओं में तो ऐसे आदेशों के अनुसार काम होना सरलता से समझ मे आ जाता है परन्तु सहयोगी समितियों मे इन आदेशों के द्वारा काम कैसे सम्भव होता है ऐसा भ्रम हो सकता है। क्योंकि उपज के साधनों पर स्वयं स्वामित्व रखने वाले कारीगर शासन योजना समिति के आदेशों को अस्वीकार भी कर सकते हैं। वैसे यह बात प्रत्यक्षतया ठीक भी जँचती है। परन्तु वास्तव में ऐसी स्थिति होती नहीं। प्रथम तो उपज के क्षेत्र में ऐसी समितियाँ हैं ही बहुत कम और फिर जो हैं वे अधिकतर सरकारी संस्थाओं पर ही आश्रित रहती हैं। इस कारण इस क्षेत्र में तो इस प्रश्न का अधिक महत्व नहीं। परन्तु कृषि व्यवसाय मे अवश्य ऐसी समितियों की संख्या अधिक है और उपज का एक बड़ा भाग इसके द्वारा बिकता है। बाजारों मे भाव ताव करने वाले रहते ही है और वे शासन द्वारा निर्धारित योजना तथा निश्चित मूल्य पर पदार्थ को मोल लेना अस्वीकार भी कर सकते हैं। निश्चित संख्या में, पदार्थ बनाने को भी वे बाध्य नहीं किये जा सकते। लाभ तथा अधिक मूल्य का लोभ उन्हे ऐसा करने को प्रोत्साहित भी कर सकता है। परन्तु समिति तथा शासन भी अनेक ढंग से उन पर प्रभाव डाल सकती है। कर का बोझ हटाना अथवा हल्का करना सरकारी संस्थाओं को ऐसे आदेश देना कि, अमुक अमुक पदार्थों के लिये अमुक २ मूल्य ही दिया जावे, उद्योगधन्धों के उन पदार्थों की संख्या व मूल्य बढ़ा देना जो अधिकतर देहाती मोल लेते हों इत्यादि। क्योंकि इन्ही पदार्थों के लोभ मे ही तो वे अपनी आवश्यकता से अधिक अनाज उपजाते हैं तथा उसे बेचते है। इन पदार्थों के मूल्य बढ़ जाने पर उन्हे अधिक अनाऊ उपजाने अथवा शासन द्वारा निर्धारित योजना के प्रतिकूल काम करने को कोई उत्साह ही नहीं होगा और न वे ऐसा

करेंगे हो। इसके अतिरिक्त ऐसी अनेक संस्थाओं और कारीगरों के परस्पर मिलने से बहुत से पदार्थों और सेवाओं का बटवारा स्वयं हो होजाता है। शासन समिति को उसमें हस्तक्षेप करना ही नहीं पड़ता। यह संस्थाएँ स्वयं भी अपने २ बने पदार्थों का अदल बदल (Exchange) कर लेती है जिससे इनके बटवारे की आवश्यकता हो नहीं रहती। परन्तु तो यह सब उपाय इन संस्थाओं को प्रभावित मात्र ही कर सकते हैं। उनका कोई सीधा आधिपत्य नहीं होता वे अधिकतर स्वतंत्र ही रहते है।

दूसरे प्रकार का संगठन

समाजवादी संगठन ऐसा हो सकता है, अथवा विचार किया जा सकता है, जिसमें सब उद्योग धन्धों का अधिपत्य सोधे शासन के ही हाथ में रहे और इन धन्धों में काम करनेवाले सब के सब एक स्वामी (शासन) के सवैतनिक मजदूर हों। ऐसे समाज में, सब बने पदार्थों का स्वामी शासन होगा और वह ही उन्हें वेतन के बदले में सब कार्यकर्ताओं को बांटेगा। इस संगठन में वेतन के रुपये के स्थान में एक निश्चित संख्या में पदार्थ लेने का परचा शासन द्वारा प्रत्येक काम करने वाले को दिया जावेगा और इस प्रकार अदल बदल (Exchange) का काम हो न रहेगा।

पूँजीवाद के समर्थक, समाजवादी संगठन का यही एक चित्र खीचा करते हैं। परन्तु ऐसे संगठन में गुण अथवा अवगुण जो कुछ भी हों, वह प्रचलित समाजवादी अथवा सोवियट रूस का संगठन नही है।

रूस में बहुत सी पदार्थ उत्पन्न करने वाली संस्थाएँ शासन के आधीन नहीं वरन स्वयं स्वतंत्र रूप से अपने सदस्यों के सहयोग काम करतीं है। उपज का एक बड़ा भाग बेचा तथा मोल लिया जाता है। संस्थाएँ तथा व्यक्तिगत कारीगर अपने काम और बने हुए पदार्थों को परस्पर अदला-बदली भी कर लेते हैं। सरकारी संस्थाएँ भी, परस्पर तथा सहयोगी समितियों से काम और पदार्थों

की अदला बदली करती हैं। इसके अतिरिक्त यह दोनों ही अपने २ पदार्थों को बेचने के लिये दूकानों इत्यादि का प्रबन्ध करती है। जन साधारण से इस प्रकार संपर्क भी रहता है। और लगातार बिक्री व मोल चलता है तथा शासन के मध्यस्थ हुए विना ही, पदार्थ उत्पन्न करने वालों के पास से प्रयोग करने वाली जनता के पास पहुँच जाते हैं।

पूँजीवाद से अन्तर

ऐसे समाजवादी और पूँजीवादी व्यापार मे क्या अन्तर है, इस स्थान पर पूर्ण रूप से तो नहीं बताया जा सकता परन्तु इतना तो अवश्य है कि समाजवादी संगठन मे कहीं पर भी किसी व्यक्ति अथवा दल को लाभ पहुँचाने के लिये सवैतनिक मज़दूर नही रक्खे जाते। और न कोई पदार्थ अधिक लाभ के साथ दोबारा बेचने के लिये मोल ही लिया जाता है जैसा पूँजीवाद मे विशेषतया होता है।

काम के ऐसे बटवारे से स्पष्टतया लाभ है। प्रथम पंचबर्षीय योजना के परिणामों का वर्णन करते हुए सन् १६३३ ई० में अपने व्याख्यान में स्वयं स्टैलिन (Stalin) ने कहा था। सरकारी तथा ऐसी सहयोगी समितियों मे परस्पर व्यापार, पदार्थों व सेवाओं के अदल बदल के विना, रूस का आर्थिक संगठन चल ही नहीं सकेगा। रूस के व्यापार कीं उन्नति एक गम्भीर समस्या हैं जिसे सुलझाए विना भविष्य मे उन्नति ही असम्भव है।

गत वर्षों में इन संस्थाओं, समितियों तथा कारीगरों में परस्पर काफ़ी व्यापार रहा। कभी कभी तो इसके कारण योजना समिति को भी कठिनाई पड़ी है। क्रय तथा विक्रय चलते रहने पर रुपये का काम रहता ही है और वह न केवल वेतन देने के लिये ही वरन्, पदार्थों को अदला बदली भी उसके द्वारा होती है। पदार्थोंके मूल्य भी इसीपर निश्चित किये जाते हैं। संक्षेप में पृथक् पृथक् आर्थिक संस्थाओं और उनके कार्यों को वश में रखना, तथा उन सब का आधार लेकर केन्द्रीय योजना बनाना कुछ कम कठिन काम नहीं।

योजना की सफलता

अस्तु, सोवियट रूस में उपज और उसका अनुपात पूर्णतया योजना समिति के आधीन रहता है और वह ही निश्चय करती है कि कौन कौन से पदार्थ बनें और किस किस संख्या में।

अब केवल यह रह जाता है कि यह संगठन सफल हुआ है अथवा हो सकता है या नही ? प्रश्न वादग्रस्त है परन्तु तो भी यह तो निश्चय ही है कि ऐसा समाजवादी संगठन लगभग १० वर्षों से चल रहा है और दिन प्रति दिन इसकी उन्नति ही होती जाती है। अनुभव भी ऐसा ही है कि इसमे सफलता मिली है। इन वर्षों मे सोवियट रूस के उपज की जितनी वृद्धि हुई है उसके पूरे पूरे आँकड़े तो नहीं परन्तु तो भी प्रथम पंचवर्षीय याजना के परिणामों के सिंहावलोकन से, जो १९३२ ई० मे पूर्ण हुई, चेष्टा की सफलता का कुछ अनुमान अवश्य हो जाता है।

उद्योग धन्धों की उपज सन् १९२८ ई० में केवल १५.७ अरब थी सन् १९३२ ई० वह ३४.३ अरब हो गई जिससे २१८.५ प्रतिशत वृद्धि का पता लगता है। सन् १९३२ ई० मे उपजकी संख्या युद्ध के पूर्व से तिगुनी और सन् १९२८ ई० से द्विगुनी हो गई थी। पंचवर्षीय योजना का ८३.७ प्रतिशत काम केवल ४ वर्ष और ३ महीने ही मे पूरा हो गया था, जब कि पूँजीवादी देशों में दशा इसके विपरीत ही थी। वहाँ उपज लगभग उतनी ही तेजी से घट रही थी जितनी कि रूस मे बढ़ती। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रथम दो तीन वर्षों मे इसमें और भी अधिक वृद्धि हुई। परन्तु, इस समय अन्य देशों मे भी उपज बढ़ रही थी और इस कारण उसका पूरा पूरा मिलान नहीं हो सकता।

सफलता का प्रमाण

उन्नति का इससे भी स्पष्ट ज्ञान देशवासियों की रहन सहन और उन्हे प्राप्त पदार्थों से लगता है। संगठन से पूर्व और इस समय की दशा की तुलना करने से वास्तविक अन्तर का पता लगता है। परन्तु

इतने पर भी पूँजीवादी नीतिज्ञ इसे स्वप्न ही को तुलना देते हैं। पूँजीवाद को वे एक प्रकार का संगठन न समझकर प्राकृतिक नियम ही समझे हुए हैं। यह भी कहा जाता है कि रूस मे अब भी तो पदार्थों की काफ़ी कमी है। और कुछ पदार्थों की सख्या तो विल्कुल ही कम है।

उनका कहना यह ठीक अवश्य है। रूसवासियों को कुछ पदार्थ कम मिल पाते हैं। परन्तु इसका कारण उपज की कमी नहीं वरन् मांगों की अधिकता है। पदार्थों की संख्या तो पहले से कही अधिक हो गई है। परन्तु उसके साथ साथ उनकी मांगों मे उससे भी अधिक बृद्धि हुई है। समाजवादी संगठन का यह एक अवगुण होने के वजाय गुण ही है कि इस संगठन द्वारा जनता की रहन सहन और आवश्यक पदार्थों की मांग मे इतनी बढ़ती हो जावे और वे दिन प्रति दिन बढ़ती ही जावे। पदार्थों की कमी के दो ही कारण हो सकते हैं। उपज मे घटी. अथवा माग मे बढ़ती। किसी पदार्थ की कमी उसकी उपज घट जाने अथवा मांग बढ़ जाने से भी होती है। रूस की स्थिति इस समय ऐसी ही है। पदार्थोंकी मांग बढ़ती जाती है। समाजवादी संगठनसे देशवासियोकी क्रय शक्ति इतनी बढ़ गई है कि उपज बढ़ने पर भी उन्हें वे कमही दीखते हैं।

क्रय शक्ति की बृद्धि के साथ, देशवासियों के रहन सहन में काफ़ी अन्तर पड़ा है। पहले रूसवासी यह सोच भी नही सकते थे कि उनके लिये भी यह सव पदार्थ रखना सम्भव हो सकता है।

क्रय शक्ति की बृद्धि से उन्हे नवीन नवीन पदार्थों की इच्छा हुई। और वे उनके अभाव को पदार्थो की कमी समझने लगे। जूतों का ही उदाहरण ले लीजिए। सन् १९१३ ई० मे रूस मे जूते १/२५ या १/२० जोड़े प्रति मनुष्य प्रति वर्ष बन पाते थे। सन् १९३३ ई० मे यह अनुपात १।२ जोड़ा प्रति मनुष्य प्रति वर्ष तक पहुँच गया अर्थात् १० गुनी बृद्धि हुई परन्तु तो भी रूसवासियो को जूते की कमी रही। पहले तो वे समझते ही नही थे कि जूते पहन भी सकते हैं। परन्तु अब लगभग प्रत्येक देशवासी जूता पहनना चाहता है और इसी कारण १० गुनी बृद्धि होने पर भी उन्हे पदार्थों की कमी है।

परन्तु यह सब हुआ कैसे । समाजवाद द्वारा ही तो समाजवाद ने इस प्रकार व्यर्थ उपज, और बेकारी दोनो का ही अन्त कर दिया। समाज को क्रय शक्ति बढ़ाने से ही तो यह सम्भव हो सका।

तभी तो बने हुए सब पदार्थ बिक सकें।

पूजीवादियों के तर्क

अब थोड़ा सा उन अर्थ शास्त्रज्ञो के विचारों पर भी ध्यान दें जो सदैव यही कहा करते है कि इस प्रकार का संगठन हो ही नहीं सकता। मिस्टर वेब के शब्दों मे वे लोग तो नियमित उपज से प्राप्त सफलता का खण्डन करने की भी आवश्यकता नहीं समझते क्योंकि उनके विज्ञान के अनुसार जो इस प्रकार की सफलता होना ही असम्भव है। प्रोफेसर लड़विग (Professor Ludwig Von Mises) ने तो इसी विषय पर ५०० पृष्ठो की एक पुस्तक तक लिख डाली। और उसमे समाजवादी संगठन हो सकने की सम्भावना ही पर आघात किया है। आश्चय की बात तो यह है कि उसमे कहीं पर भी रूस मे इस प्रकार प्रचलित संगटन का उल्लेख तक नहीं है।

इन लेखकों की ऐसी पुस्तकों के कारण ही पूँजीवादी तर्कों पर भी विचार करना पड़ा। वे तो पूँजीवाद को एक पूर्ण वस्तु ही मानते हैं और जो कही पर कोई त्रुटि अथवा कमी दिखाई जाती है उसका कारण वे पूँजीवाद के सिद्धान्त से हटना ही बताते है। उनका तर्क यह है कि बाज़ारो मे पदार्थों की बिक्री व मोल एक प्रकार का स्थाई चुनाव है जिसमे जनता स्वयं चुन लेती है कि कौन २ से पदार्थ बनाए जावें। यह तर्क ठीक भी हो सकता था यदि सब मनुष्यों को भाव ताव करने की समान शक्ति होती। परन्तु वास्तव में ऐसा है नही और इस कथित चुनाव मे कुछ मत दाताओं के अन्य मनुष्यों से ४०,००० तक अधिक मत रहते है।

(अमेरिका और बृटेन मे सबसे धनी और निर्धन मनुष्य की आय में लगभग इतना ही अन्तर है)

नियमित उपज के सम्बन्ध में तो उनका कहना है कि यह इतना भद्दा है कि इस पर काम हो ही नही सकता। ऐसी योजना देश की उपजाऊ शक्तियों का पूरा २ प्रयोग कर सकेगी, इसे भी वे स्वीकार नहीं करते। लण्डन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर राबिन्स (Professor Robbins) ने लिखा है कि उपयुक्त संगठन के लिये आवश्यक है कि उपज के साधन प्राकृतिक पैदावार मज़दूर और पूँजी (Land, labour and capital) का इस प्रकार बटवारा हो कि बने हुए किसी भी पदार्थ का मूल्य (utility) किसी अन्य पदार्थ से कम न हो। मूल्य से उनका तात्पर्य, मनुष्यों की माँगों को पूरा करने की योग्यता से है। अन्य शब्दों मे कोई भी पदार्थ ऐसे न बने जो जनता के लिये उतने उपयोगी न हो जितने कि उनके स्थान पर बनने वाले अन्य पदार्थ। संक्षेप मे, योजना समिति से कोई त्रुटि ही न हो। नियमित उपज के संगठन को पूँजीवाद के समान भी न समझकर वे उसे नीचे श्रेणी का संगठन कहते हैं। शासन के हस्तक्षेप के कारण ही त्रुटि होती है ऐसा उनका विचार है।

प्रोफैसर महोदय का तो तर्क ही निराला है। उनका ऐसा विचार क्यों है, और किन आधारों पर वे ऐसे परिणामों पर पहुँचे हैं, इसका वे उल्लेख ही नही करते।

समाजवाद से तुलना

वास्तव में नियमित उपज और पूँजीवादी त्रुटियों मे विशेष भिन्नता है। योजना की त्रुटियाँ तो उपज के ढंग को नियमानुसार कराने मे अकस्मात ही रह जाती है। परन्तु पूँजीवाद मे उपज की दुर्दशा तो सम्भवतः कही त्रुटि कही नही जा सकती। उस मे उपज को नियमित करने वालों का तो कोई दोष है नही। वे तो प्राकृतिक संकटों के समान है। जिसमें मनुष्य का कोई बस नहीं चलता। उपज लाभ के आधार पर होती हैं तथा उपज और माँग का सम्बन्ध, अकस्मात स्वयं ही हो जाता है। वह किसी व्यक्ति विशेष के हाथ मे तो रहता नही। इसी प्रकार उपज की रोक थाम भी आप ही

आप होती है। प्राकृतिक शक्ति के अन्ध विश्वास से ही इसमें भी काम होता है और उसके फल स्वरूप दुर्दशा तथा क्लेष सहना पड़ते है। पूँजीवाद में उपज को बागडोर, मनुष्यों के हाथ में न रहकर, पदार्थो में रहती है और वे हो उसको रोक थाम करते हैं।

इसके बिपरीत, समाजवादो संगठन में काम करने वालों के सहयोग से जान बूझकर उपज को रोक थाम, की जाती है ताकि जन साधारण की मांगें और उनको आवश्यकताओं का परस्पर उपयुक्त सम्बन्ध बना रहे।

यह भी कहा जाता है कि लाभ के आधार पर उपज को यों हो छोड़ देने से जान बूझकर उपजको रोक थाम करना कहीं कठिन है। और यह ठीक भी है। किसो वस्तु की रोक थाम करनेसे उसे अपनी धारा मे बहने देना सर्वदा सरल रहता है। उदाहरण के लिये गाड़ी को ठीक मार्ग पर चलाना कठिन है। उसे जहाँ कहीं भो जाने देना सरल है, भले ही वह गढ्ढे हो मे क्यों न गिर जावे। इसी भाँति उपज के साधनों को वश में रखना, उन्हें अपने पर आधिपत्य न देना, कहीं कठिन है। परन्तु उनका अधिपत्य हानिकारक, तथा घातक हाने के कारण इन कठिनाइयों का सामना ही करना पड़ता है।

समाजवादी संगठन में, अधूरा होते हुए भी इतनी बुराइयाँ नहीं रहतीं जितनी की पूँजीवाद में, ब्रिटेन और अमेरिका ऐसे उच्च उद्योगशाली देशों में तो ऐसे संगठन का परिणाम प्रारम्भ से हो उपज को बृद्धि और रहन सहन मे निश्चित्ता होगो। उपज को बागडोर समाज के हाथ में रहने से जन समाज को दुर्दशा, अनिश्चित्ता तथा अशान्ति से छुटकारा मिल सकेगा। और व्यापारिक तथा राजनैतिक अन्तराष्ट्रीय युद्ध से मुक्ति मिलेगी जिससे सम्पूर्ण संसार ही भयभीत है।

समाजवाद और पूँजीवाद

—:o:—

परस्पर विरोध

—

उपज के दोनो संगठन पूँजीवाद और समाजवाद का एक साथ मिल कर चलना असम्भव है। पदार्थों के उत्पन्न करने मे लाभ तथा नियमित उपज दोनों आधारों पर निर्णय नही हो सकता। ऐसा निर्णय तो एक ही आधार पर हो सकता है चाहे वह लाभ के अधार पर हो अथवा उसका अन्त करके उपजाऊ शक्तियों का प्रयोग एक निश्चित योजना के अनुसार किया जावे। यह दोनों एक साथ तो चल ही नही सकेंगे। ऐसा करने से तो आर्थिक जीवन मे ही गड़बड़ी पड़ जावेगी। पूँजीवादी देशों में यदि शासन द्वारा योजना समित का आयोजन हो और वह नियुक्त भी की जावे। परन्तु आर्थिक संगठन पूँजीवादी ढंग पर ही रहे तब देखना है कि परिणाम क्या रहता है और जन साधारण को मागे कितनी पूरी होती है। कितनी उपजाऊ शक्तियों बिना प्रयोग के व्यर्थ पड़ी हैं यह जानने में तो विशेष कठिनाई न होगी क्योंकि देशमें सहस्त्रो स्त्रीपुरुष नगे और भूखे होंगे। और उसके साथ ही साथ सहस्त्रों बेकार मजदूर, वन्द कल कारखानों और आवश्यक सामग्री भी व्यर्थ ही होगी।

वस्भाविक ही है। कि योजना समिति इनका प्रयोग कराना चाहती। मान लो समिति इन वन्द पड़ी मशीनों के स्वामियो को आदेश देती है

कि ऐसी मशीनें चलाई जावें और उनसे कुरते कमोज इत्यादि बनाई जावें ताकि नंगोंको कपड़ा मिल सके। कपड़ा बाजार की स्थिति किसी समय में एक ही हो सकती है या तो अधिक कपड़ा बनाना लाभप्रद है। तब तो इन बन्द मिलों के स्वामी तुरन्त ही योजना समिति के आदेशों को स्वीकार करके उन्हे चालू कर देंगे। ऐसी स्थिति में यदि समिति उन्हे तुरन्त आदेश न भी दें, तो भी आदेशों की प्रतीक्षा न करके वे स्वयं बन्द मिलों को चालू करके कपड़ा बनाना आरम्भ कर देंगे। क्योंकि यह तो उन के लाभ की ही बात होगी। और इस स्थिति में किसी आदेश की आवश्यकता भी न होगी।

इसके विपरीत यदि अधिक उपज लाभदायक नही, तो सर्व प्रथम तो मिल मालिक उनके आदेशों को स्वीकार करने में आना कानी करेंगे। तथा उससे बचने का प्रबन्ध सोचेंगे। यदि शासन ने उन्हे योजना समिति के आदेशानुसार कार्य्य करने को बिवश किया। और उन्होंने ऐसे कारखाने खोले भी, तो उनके चलने मे दिन प्रति दिन घाटा होगा। बाजारों में इन पदार्थों की संख्या बढ़ने से इनके मूल्य में और भी कमी होगी और इस प्रकार घाटा बढ़ता ही जावेगा। यदि और सब बातें वैसी ही रहीं तो मशीनें अधिक समय तक चल ही न सकेंगी और अन्त में मिल मालिकों को समिति के आदेशों को अस्वीकार ही करना पड़ेगा। अन्यथा वे मिल मालिक ही न रह सकेंगे। अधिक घाटे से उनको पूँजी घटेगी और सम्भवतः मशीने ही उनके हाथ से निकल जावें। फिर तो आदेश माने ही न जा सकेंगे।

अस्तु, पहली स्थिति में समिति के आदेश व्यर्थ होंगे और दूसरी में वे माने ही न जा सकेंगे। इसी कारण पूँजीवाद के रहते हुए नियमित तथा निश्चित आधार पर उपज का संगठन करना असम्भव ही है।

शक्तियों का प्रयोग

पूँजीवादी देशों मे सब से बड़ा प्रश्न देश की उपजाऊ शक्तियों के प्रयोग का है। इन देशों में बहुत सी शक्तियाँ व्यर्थ पड़ी रहती हैं।

उनका प्रयोग बिक्री के ध्यान से लाभप्रद नहीं होता परन्तु तो भी ऐसी शक्तियों का प्रयोग मनुष्यता के ध्यान से भी होना ही चाहिये भले ही उनसे अधिक लाभ न हो। बैकार मनुष्यों को कुछ काम तो मिलना ही चाहिये ताकि उनकी जीविका निर्वाह हो सके।

बेकारों की समस्या

वर्तमान समय मे बेकारों की समस्या बड़ी जटिल है। उनकी संख्या भी अधिक है। शासन को उसे किसी न किसी प्रकार सुलझाना भी अवश्य है। बेकारी के कारण देश की मांगें भी अधूरी रह जाती हैं। फिर पूँजीवादी देश इन बेकार मनुष्यो को जन साधारण के लिये आवश्यक पदार्थ बनाने को ही क्यों नही कह देते। भलेही उनके उत्पन्न करने में लाभ न हो, परन्तु उनसे देशवासियो को भोजन ,वस्त्र निवास स्थान इत्यादिक आवश्यक पदार्थ तो प्राप्त हो ही जावेगे। परन्तु ऐसा होता न ही। पूँजीवादी देश इन्हे इस प्रकार काम करने नहीं देते वरन् इसके स्थान पर वे भाँति भाँति के अन्य कामों की योजना (works scheme) सोचा करते हैं। और ऐसे समय मे भी जब कि सहस्त्रों देशवासी आवश्यक पदार्थों के अभाव से कष्ट पाते हैं, देश के बैकार मनुष्य ऐसे ऐसे कार्य्यों मे लगाए जाते हैं जैसे अनावश्यक सड़कें बनवाना, गड्ढे भराना, जंगल लगाना, पुष्प वाटिकायें लगाना इत्यादि इत्यादि। जन समाज की प्रारम्भिक माँगों को पूरा करने के आवश्यक कार्य्यों पर तो रोक ही लगा दी जाती है। वास्तविक उपयोगीं पदार्थ बनाने की मानों मनादी होती है। यही नहीं, इसके अतिरिक्त बैकारों को काम देने के लिये भाँति भाँति की अन्य योजनायें ढूँढ़ने मे मानसिक शक्ति का व्यर्थ अपव्यय भी होता है। पूँजीवादी देशों का तो सिद्धान्त ही दूसरा है। उनके सामने तो केवल लाभ का ही आधार रहता है। जब तक किसी पदार्थ का बनना लाभप्रद होगा तभी तक वे बनाए अथवा बनवाए जावेंगे अन्यथा नही, चाहे उनकी मांग कितनी ही क्यों न हो और कितने भी देशवासी उनके बिना कष्ट क्यों न झेलें। उन्हे तो अधिक मूल्य और लाभ चाहिये। पदार्थों

की अधिकता से तो लाभ मे कमी ही होगी। उनका मूल्य भी अवश्य घटैगा। अस्तु, यही कारण है कि ऐसे संगठन मे आवश्यक प्रारम्भिक मांगो को पूरा करने की अधिक चेष्टा नहीं होती।

यदि इस प्रकार का संगठन रहना है तो सदैव ऐसी ही स्थिति रहेगी। इसी लिये ऐसे देशों में बेकारी को दूर करने के लिये ऐसे कामों की खोज करना पड़ती है जो किसी स्थिति मे भी लाभप्रद न हो, अथवा कम से कम इतने समय तक लाभदायक न हो सकें कि केवल लाभ की आकांक्षा से प्रेरित व्यक्ति उस ओर आकर्षित हों। अथवा ऐसे भी काम जिनमे पुराने रिवाज के कारण लाभ उठाया ही न जा सकता हो जैसे डाक, तार इत्यादिक।

शासन का हस्तक्षेप

लाभप्रद कामों मे शासन के हस्तक्षेप से पूँजीवादी संगठन चल ही न सकेगा। क्योंकि जैसा ऊपर लिखा जा चुका है यदि शासन मिल मालिकों से जन समाज की आवश्यक माँगों को पूरा करने के पदार्थ बनवाने मे इन बेकारो को काम देने को कहे तो मिल मालिक ही निर्धन हो जावेंगे। एक तो पदार्थ बनवाने मे घाटा और उस पर इन बेकारों को वेतन देना—इससे तो उन्हे दोहरी हानि ही उठानी पड़ेगी।

उपज के नए साधन बनवाने में भी इन बेकारों का प्रयोग पूँजी-वादी व्यवस्था न हो सकेगा। क्योंकि इन नई मशीनों से उत्पन्न पदार्थों के बाज़ारों में आने से पुराने मिलमालिकों से इनको गहरी प्रति द्वन्दता होगी जो इस समय तक लाभके आधार पर मशीनों को चलाते हैं। पदार्थों की संख्या इसप्रकार भी बढ़ेगी ही और उसके फल स्वरूप मूल्य मे कमी होना स्वाभाविक हीं है। मूल्य की कमी से उन मिलों को भी हानि पहुँचेगी जो इस समय तक लाभ के साथ चल रही थी और उनके मिल मालिक भी हानि उठावेगे। अधिक हानि होने पर, मिलों को ही बन्द कर देंगे। उन मिलो में काम करने वाले मज़दूर बेकार होंगे और इस प्रकार जितने बेकार मज़दूरों की खपत इन नई मिलों में होगी,

उतने ही पुरानी मिलों से मजदूर नए बेकार हो जावेंगे। शासन के हस्तक्षेप से अन्त में लाभ के स्थान में हानि ही होगी।

अस्तु दोनों प्रकार के संगठन (पूँजीवाद व समाजवाद) एक साथ चल ही नहीं सकते। एक साथ चलाने से किसी से भी लाभ न हो सकेगा। पूँजीवाद में नियमित उपज का सिद्धान्त ही ठीक नही। वास्तव मे पूँजीवाद का एक ही तो गुण कहा जाता है कि इस संगटन मे उपज अनियमित रहती है और क्रय विक्रय के आधार पर घट बढ़ कर स्वयं ठीक हो जाती है। यदि यह गुण भी हटा दिया गया, तब तो फिर पूँजीवादी संगटन कुछ रह ही न जावेगा।

पूँजीवाद मे शासन द्वारा आर्थिक क्षेत्र मे कोई हस्तक्षेप न हो, ऐसी भी बात नही है। हस्तक्षेप होता है और वह नियमित उपज के ही नाम पर होता है प्रायः दिन प्रति दिन ऐसे नियम बनते है कि अमुक पदार्थ की उपज मे अन्य वस्तुओ की संख्या निश्चित हो। उदाहरणार्थ किसी पदार्थ की उपज मे कोयले की संख्या निश्चित रहे। और देश की सब कोयले की खाने, निश्चित संख्या से अधिक कोयले की उपज न करे। आयात निर्यात कर की नई २ योजनाएँ बनती हैं। मूद्रा मूल्य मे कमी की जाती है। सेवाओं के लिये दिये जाने वाले वेतनो में कटौती लगती है। तथा शासन के आधिपत्य अथवा प्रभावित धन्धों मे वेतनों मे सीधे कमी की जाती है। निस्सन्देह ऐसे काम देश के आर्थिक संगटन मे हस्तक्षेप के हैं। और यदि इसी को योजना का स्वरूप दिया जावे तो प्रत्येक पूँजीवादी देश मे कुछ न कुछ इस प्रकार की योजना अवश्य मिलेगी।

परन्तु ऐसी योजना और पूर्वोक्त नियमित उपजकी योजना मे भारी अन्तर है। पूर्वोक्त योजना मे जानबूझ कर प्रत्येक उपज के साधन का विशेष २ पदार्थों मे बँटवारा करना होता है। अमुक साधन से अमुक पदार्थ, अमुक संख्या मे बनेगे। और इस प्रकार देश की लगभग सभी उपजाऊ शक्तियों का बटवारा करना पड़ता है।

ऐसा तो सम्भव नहीं कि कुछ साधन अथवा शक्तियों का बटवारा योजना के अनुसार हो और कुछ का लाभ के आधार पर हो। क्योंकि ऐसा होने से तो संगठन मे ही गड़बड़ी पड़ जावेगी। नियमित उपज के संगठन में देश की सब उपजाऊ शक्तियों का बँटवारा एक नियमित आधार पर निश्चित होता है। इसके विपरीत शासन द्वारा उपरोक्त हस्तक्षेप में कुछ पदार्थों अथवा साधनों में केवल थोड़ी बहुत रुकावट अवश्य होती है। परन्तु देश की सब उपज का एक नियमित रूप नही होता। और फिर उसका मुख्य आधार तो लाभ ही रहता है। इन हस्तक्षेप द्वारा लाभ के आधार की ही पुष्टि होती है। कही पर इसका लोप अथवा इसमे कमी नहीं होती जिसके बिना पूँजीवादी संगठन चलने मे ही कठिनाई पड़े। उनका उद्येश्य यातो पदार्थों के मूल्य को बढ़ाना या बेतनो मे कटौती करके उपज के मूल्य को घटाना होता है।

किसी पदार्थ को उपज को रोकने के सब उपायों का उद्येश्य, उस पदार्थ अथवा उद्योग के मूल्य को बढ़ाना होता है। क्योंकि ऐसी रोक थाम से उन पदार्थों को संख्या मे कमी हो जाती है और फिर उनका क्रय मूल्य बढ़कर वे लाभप्रद हो जाते हैं। ऐसा उपाय तो उपज के लिये एक प्रकार का रोक थाम (Contra Ception) ही है। उदाहरणार्थ कृषि व्यवसाय मे कुछ खेतों को ऊसर ही रखना अथवा उनपर उपज न कराना ताकि शेष उपजाऊ खेतों को उपज का मूल्य बढ़ सके। इसी प्रकार अन्य धन्धों मे भी ऐसी ही युक्ति चलाई जाती है। कुछ मशीनें बेकार ही रक्खी जाती है ताकि अन्य मशीनो द्वारा उत्पन्न पदार्थों का मूल्य बढ़ सके।

मुद्रा के वास्तविक मूल्य को कम करने और उसके परिणाम स्वरूप साख को बढ़ाने की नीति भी ऐसी ही है। उनका उद्देश्य भी पदार्थो के मूल्य को बढ़ाना है। आयातकर, अथवा आयात की संख्या निश्चित करना इत्यादि भी ऐसे ही साधन हैं। परन्तु नियमित उपज को योजना के यह अङ्ग नही हो सकते।

पूँजीवादी देशों मे अन्य प्रकार के हस्तक्षेप इनसे अधिक सीधे और स्पष्ट होते हैं। उनका उद्देश्य मजदूरों के वेतनों इत्यादि मे कमी करके उपज के मूल्य को घटाना होता है। परन्तु इन दोनों प्रकार के उपायों का उद्देश उपज में लाभ के आधार की पुष्टि करना होता है। ताकि इस आधार पर स्वयं चलने वाली कल चालू रहे। विक्री और उपज के मूल्य का अन्तर ही लाभ है, उपज के मूल्य मे कमी अथवा विक्री के मूल्य को बढ़ाकर वह पूरा किया जा सकता है। अस्तु यह उपाय लाभ को बढ़ाने अथवा लाभ के आधार पर संगठन को चलाने के साधन हैं। नियमित उपज का संगठन तो इस सिद्धान्त ही का विरोधी है। उसका उद्देश्य लाभ नही वरन जन साधारण की माँगों को पूरा करना है जो लाभ के आधार पर सम्भव नही होता। इसी कारण, देश की उपजाऊ शक्तियों का पूरा २ प्रयोग, जनता को अधिक से अधिक पदार्थ और सेवाएँ प्राप्त कराने वाले समाजवादी संगठन का प्रारम्भ पूँजीवाद के रहते नही हो सकता।

व्यक्तिगत स्वामित्व

इन दोनो संगठनो के एक साथ न चल सकने का विशेष महत्व पूर्ण कारण एक और भी है। पूँजीवाद संगठन मे उपज के साधन का आधिपत्य तथा स्वामित्व पृथक पृथक व्यक्तियों के हाथ मे रहता है। नियमित उपज अथवा समाजवादी संगटन के लिये यह आवश्यक है कि उपज के साधनो का आधिपत्य अथवा स्वामित्व व्यक्तियों के हाथ मे न रहकर शासन अथवा समाज के हाथ मे ही रहे। ऐसे स्वामित्व का दोनो संगटनों से गहरा सम्बन्ध है। और उसके बिना संगठन भली भाँति चल नही सकेगा।

समाजवादी संगटन मे किसी प्रकार की योजना चलाना असम्भव है, जब तक उपज के लगभग सम्पूर्ण साधनो पर उनका प्रभावशाली तथा स्थाई आधिपत्य न हो, अथवा जब तक वे उपज के साधन मशीन,

मज़दूर, आवश्यक सामग्री, तथा अन्य उपजाऊ शक्तियों का बटवारा इस प्रकार न कर सकें कि उनसे निश्चित संख्या मे ही जन साधारण के पदार्थ बनें। इनके बिना वे शक्ति हीन तथा निस्सहाय रहेंगे। व्यक्ति विशेष के हाथ में इनका आधिपत्य रहने पर, उनके स्वामी, इन साधनों का प्रयोग शासन के कहे पर भी एक बाहरी समिति के आदेशानुसार चलने नहीं देंगे। न ऐसा कर ही सकते हैं। क्योंकि व्यक्तियों के हाथ में साधनों के रहने से, उनका प्रयोग लाभ के आधार पर होगा—किसी केन्द्रीय योजना के आधार पर कदापि नहीं।

अस्तु, यही कहना पड़ता है कि नियमित उपज अथवा समाजवादी संगठन का प्रारम्भ तब हो सकता है जब कि उपज के लगभग सब साधना का स्वामित्व अथवा पूरा पूरा आधिपत्य शासन के अथवा सहयोगी समितियों के रूप में जनता के हाथ मे रहे जो पूँजीवादी संगठन में सम्भव नहीं।

उपज का बटवारा

—:o:—

पूँजीवादी ढंग

उपज का उद्देश्य, उसका प्रयोग है। जो पदार्थ बने, उनका प्रयोग हो। वे जनता के काम आवे। गेहूँ तथा दूसरे अनाज उपजाने का उद्देश्य यही होता है कि मनुष्य समाज उससे भोजन पा सके। अन्य वस्तुओं अथवा पदार्थों के लिये भी ऐसा ही है। समाज का आर्थिक जीवन केवल उपज ही नही हो सकता है। उसके लिये केवल उपज ही प्रयाप्त नही है। पदार्थों के प्रयोग के लिये उनका बटवारा भी उतना ही आवश्यक है। बटवारे शब्द का प्रयोग मुख्यतया दो अर्थो मे होता है। प्रथम तो पदार्थों अथवा सेवाओं का उपज के स्थान से उनके प्रयोग के स्थान तक पहुँचाना। उदाहरणतः बने हुए पदार्थ, गेहूँ, अनाज इत्यादि का बाज़ारों मे पहुँचाना। दूसरे, उपज के पदार्थों को जन समाज के भिन्न भिन्न वर्गों तथा व्यक्तियों में बाँटना होता है। अर्थात् बने हुए पदार्थों का उपयोग पदार्थ उत्पन्न करने वाले प्रत्येक वर्ग तथा व्यक्ति को किस प्रकार और कितनी संख्या मे मिले।

पहिले प्रयोग से तो अधिक प्रयोजन नहीं, विशेष महत्व की बात तो इस दूसरे प्रयोगमे ही हैं। पदार्थ कैसे अथवा किन के द्वारा बाजारों और घरों मे पहुँचने हैं। इसका अधिक महत्व नही। देखना तो यह है कि किन किन के पास कितनी २ संख्या मे ये पहुँचते हैं। अर्थात् समाज

में उपज किस प्रकार वटती है। उपज की संख्या निश्चित हो जाने पर, यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है कि उसका उपयोग मिलेगा किसे ? कौन कौन से पदार्थ बने और कितनी कितनी संख्या में यह निश्चय हो जाने पर यह भी निश्चय आवश्यक होता है कि इन बने हुए पदार्थों का कितना कितना भाग किन किन वर्गों अथवा व्यक्तियों को मिले।

पदार्थों और सेवाओं के बटवारे का ढंग प्रत्येक व्यक्ति को पदार्थ अथवा सेवा की एक निश्चय संख्या देना ही हो सकता है। यह संख्या प्रत्येक व्यक्ति के लिये चाहे समान हो, अथवा भिन्न भिन्न व्यक्तियों के लिये कम अथवा अधिक हो। परन्तु व्योहारिक रूप मे ऐसा नहीं होता। मनुष्यों को पदार्थ न देकर उसके स्थान मे रुपया दिया जाता है जिससे वे अपनी इच्छानुसार पदार्थों अथवा सेवाओं को मोल ले सकें और उनका प्रयोग कर सकें। मोल लेने अथवा प्रयोग कर सकने की उन की शक्ति प्राप्त रुपये तक ही सीमित रहेगी। इस प्रकार बटवारे का प्रश्न समाज में आय का वांटना ही रह जाता है। क्योंकि आयके बटवारे से ही, मनुष्यों को पदार्थ अथवा सेवाओं को मोल लेने की शक्ति मिलती है। इसी कारण बटवारे के प्रश्न पर विचार करने समय केवल यही विचार करना रहता है कि देश का सम्पूर्ण आय किस प्रकार किन २ वर्गों अथवा व्यक्तियों में, किस २ संख्या में, और कैसे वांटी जावे स्पष्ट रूप में किन २ कामों के लिये आय दी जावे और प्रत्येक के लिये कितनी ?

मजदूरों का वेतन

पूँजीवादी संगठन मे मनुष्यों को धन उनके किये हुए कामों के लिये दिया जाता है। इसका बटवारा दो विशेप भागों में रहता है। एक तो काम करने वाले मज़दूरों को वेतन के रूप में और दूसरा पूँजीपतियों को अपनी पूँजी के प्रयोग के लिये। मज़दूरों को दिया जानेवाला धन 'वेतन' अथवा मज़दूरी कहलाता है। प्रत्येक मजदूर के काम की संख्या और गुणके आधार पर उसका वेतन निश्चित होता है।

जो प्रायः प्रति सप्ताह अथवा निश्चित घन्टों पर निर्भर होता है। किसी मजदूर को मज़दूरी निश्चित करने में उसके काम के गुण का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। साधारण मजदूर व शिक्षित कला कुशल कारीगर व इञ्जीनियर इत्यादि के काम में भिन्नता रहती है और उसी के अनुसार उनको दिये जानेवाले वेतन मे भी अन्तर होता है। काम सरल है अथवा कठिन, उसे करने के लिए विशेष शिक्षा की आवश्यकता है अथवा नही, मज़दूरी निश्चित करने मे इन बातों का प्रभाव पड़ता है।

पूँजीपतियों का भाग

देश की आय का बटवारा एक तो उपर्युक्त ढंग से मज़दूरों को वेतन देने में होता है। पदार्थ उत्पन्न करने तथा उससे सम्बन्धित काम करने वाले, अपने काम के लिये वेतन अथवा मजदूरी पाते हैं। उपज से प्राप्त धन का एक भाग इस प्रकार बँट जाता है। परन्तु इसके अतिरिक्त पूँजीवादी देशों मे एक दूसरे प्रकार के मनुष्यों को भी धन दिया जाता है जो स्वयं काम नहीं करते। वे किन्हीं पदार्थों के स्वामी होते हैं। उन्हे उनके काम के लिये नहीं वरन् उनके स्वामित्व के लिए धन दिया जाता है। प्रत्येक पदार्थ के स्वामी को यह धन नहीं दिया जाता वरन केवल उपज के साधनों के स्वामियों को हीयह मिलता है। उदाहरणतः एक मोटर के स्वामी को केवल उस के इस स्वामित्व के कारण उपज का कोई भाग अथवा धन नही दिया जावेगा। क्योंकि वह तो उपज के साधन का स्वामी नही वरन् एक साधारण पदार्थ का ही स्वामी है। इसके विपरीत एक मोटर बनाने वाली मशीन के स्वामी अथवा ऐसे किसी कार्य्यालय के हिस्सेदार को उपज का यह भाग मिलेगा क्योंकि ऐसी मशीन अथवा उसके धन से मोटरें तथा अन्य पदार्थ बनाए जावेंगे। अस्तु उपज के साधनों के स्वामियों अथवा उनके हिस्सेदारों को ही इस प्रकार आय का एक भाग दिया जाता है। इस प्रकार अनाज उपजाने वाले खेतों के

स्वामी, जमींदार, ताल्लुकेदार, कोयले इत्यादि कानों के स्वामी, तथा अन्य पूँजीपति जो अपना धन उपजाऊ पदार्थों को उत्पन्न कराने में लगाते हैं, यह धन पाते है।

इन स्वामियों को इस प्रकार धन देने का कारण कहा जाता है कि अपनी पूँजी को उपज के कामों मे प्रयोग करने देने की उनकी स्वीकृति है। यदि उन्हे उपज का यह भाग न मिले तो वे अपनी पूँजी, मशीन इत्यादि का प्रयोग ही न होने दें। इसी कारण उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के लिये उन्हे उपज का एक भाग देना ही पड़ता है। कानून के द्वारा उन्हे ऐसा करने को साधारणतया कोई वाध्य तो कर नहीं सकता वरन् यदि वे चाहें तो इस प्रयोग को अस्वीकार भी कर सकते हैं। क्योंकि यह साधन भी उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति ही तो है। और अन्य सम्पत्ति की भाँति उन्हे अधिकार है कि वे उसका भी जैसा चाहे प्रयोग करें। उदाहरणार्थ किसी खेत का स्वामी अपने खेत को जोते जाने से रुकवा भी सकता है। अपने आनन्द के लिये उस पर पुष्प वाटिका लगवाने का भी उसे अधिकार है। इसी प्रकार किसी खदान के स्वामी को पूरा अधिकार है कि वह अपनी खदानों में काम न होने दे। जिससे कोयला, सोना, अथवा कोई अन्य खनिज पदार्थ निकाला ही न जा सके। पूँजीवादी संगठन में इसी तर्क से, ऐसे स्वामियों को उनकी सम्पत्ति का उपजाऊ कामों में प्रयोग करवाने के लिये सूत, लगान अथवा भाड़ा देना पड़ता है। अधिक सूत, अथवा भाड़ा देने वाले को ही ये अपनी सम्पत्ति का प्रयोग देंगे, यह भी स्पष्ट ही है। लाभ के कारण ही तो वे ऐसा प्रयोग देने को प्रेरित होते हैं। लाभ की अधिकता पर ही वह इसका निर्णय भी करेंगे।

वास्तविक प्रश्न

परन्तु वास्तविक प्रश्न तो यह है कि ये किराये पर लेने वाले

यह सूत अथवा किराया कहाँ से देंगे। पदार्थ से प्राप्त लाभ ही मे से तो दिया जावेगा।

भाड़े पर मशीन अथवा खेत लेने वाला खेत की उपज से प्राप्त मूल्य मे ही से सूत अथवा लगान देगा। और कोई अन्य पूँजी तो है नही और न हो ही सकती है। अपने पास से अथवा अन्य कहीं से देने मे पदार्थ बनाने से उसे लाभ ही क्या होगा। उपज के लाभ से ही यह भाग दिया जाता है।

साधनो के स्वामियो और उन्हे प्रयोग करने वालो मे यह तो सीधा सम्बन्ध हुआ। परन्तु वास्तव मे ऐसा भी नही होता। सब प्रयोग करने वाले, इन साधनों को सीधे उनके स्वामियों से नही लेते वरन एक या दो मनुष्य इन्हे भाड़े इत्यादि पर लेकर उन्हे दूसरों को दे देते हैं अथवा दूसरों द्वारा उनका प्रयोग करवाते हैं। ऐसे बीच के लोगों को भी कुछ न कुछ लाभ चाहिये नही तो वे भी काम न करेंगे। भाड़े अथवा लगान के रुपये मे इन का भाग भी जुड़ जाता है। किसी एक किसान अथवा मजदूर के पास इतना धन ही नही होता कि यह सीधे इन साधनों को मोल अथवा भाड़े पर भी ले सके। उनके लिये कठिनाइयाँ भी अधिक रहती हैं। और इस प्रकार बीच के लोगों के कारण भाड़े का धन द्विगुना नही तो डेवढ़ा होही जाता है।

अब सहज ही यह प्रश्न उठता है कि साधनो के यह स्वामी भाड़े पर देने के बजाय स्वयं इनका प्रयोग उपजाऊ कामो मे क्यों नही करते ? कुछ स्वामी ऐसा करते भी है। और दशा सूत अथवा भाड़ा न मिलकर उन्हे उपज का सम्पूर्ण लाभ ही मिल जाता है। भाड़े पर प्रयोग करने वालों से उन्हे अधिक ही मिलता है क्योंकि उन्हे तो सूत अथवा भाड़ा भी देना पड़ता है जो इन्हे नही देना पड़ता। अथवा यों कहे कि वे सूत अथवा

भाड़ा भी अपने ही को देते है। और इस प्रकार सूत, भाड़ा और लाभ तीनों ही उनको मिल जाते हैं ।

स्वामित्व का धन

उपज के साधनों के प्रयोग से प्राप्त लाभ ही वह भाग है जो इन स्वामियों को उनके स्वामित्व के लिये मिलता है। सूत अथवा भाड़े तो उसका एक भाग है। साधन के भाड़े पर न उठाए जाने पर भी, ये भाग रहते है भले ही उनका प्राप्त करने वाला एक ही व्यक्ति हो। अस्तु उपज के स्वामियों को प्राप्त लाभ में से एक भाग देना पड़ता है क्योंकि उसके बिना, समाज को इन आवश्यक साधनों का प्रयोग ही न मिले। उपज हो ही न सके और समाज जीवित ही न रह सके ।

चूँकि उपज के साधनों, खेत, खदान तथा पदार्थ उत्पन्न करने के लिये आवश्यक मशीनों के अधिकतर स्वामी वे ही होते हैं, समाज को विवश होकर, उन्हे लाभ का एक भाग देना होता है। और वह भी अधिक भाग। यह जानकर कि समाज इनके बिना जीवित ही नही रह सकता, उनकी भाव ताव की शक्ति बहुत बढ़ जाती है। और इस कारण यह लोग उपज का एक बहुत बड़ा भाग ले लेते हैं। प्रायः यह भाग इतना बढ़ जाता है कि प्रयोग करने वालों के पास जीवित रहने भर का भी नही बच पाता।

दुर्दशा के लक्षण

पदार्थो के रूप में रखने पर इसके अर्थ यह होते हैं कि बनने वाले लगभग सब पदार्थ यह स्वामी ही ले लेते हैं और इनके अतिरिक्त अन्य मनुष्यों के लिये कुछ बचता ही नही। स्थिति तो यहाँ तक भी पहुँच जाती है कि जन साधारण को भूखे और नंगे तक रहना पड़ता है। जब कभी भी समाज अथवा साधनों का प्रयोग करने वाले, इस भाग में कमी करना चाहते हैं ताकि उसे

दूसरों में वाँट सकें, ये पूँजीपति अपने साधनों का प्रयोग ही रोक देते हैं। उनका प्रयोग चाहने वालों को निकाल देते हैं। कारखानों को बन्द कर देते हैं। कार्य स्थगित कर देते है जो प्रचलित भाषा में, लाक आउट (Lock out) कहलाता है। जीविका संकट से विवश होकर बेचारे काम करने वालों को इन स्वामियों से फिर समझौता करना पड़ता है। क्योंकि उनके बिना वे जीवित ही नही रह पाते। इस प्रकार इन स्वामियों अथवा पूँजीपतियों को देश को उपज में से काम करने वालों को जीविका के लिये आवश्यक पदार्थों को छोड़कर, शेष सब वचत मिल जाती है। अथवा यों कहे कि काम करने वाले जीविका के आवश्यक पदार्थ और सेवाओ को रोककर देश की सब शेष उपज इन पूँजीपतियो को ही दे देते हैं। और यदि वे, अपने जीवन के लिये आवश्यक से अधिक पदार्थ बनावे ही नही तो इन पूँजीपतियों को कुछ मिले ही नहीं। परन्तु वास्तव मे मजदूर जीविका की सीमा से कहीं अधिक संख्या में पदार्थ बना सकते हैं और यह पूरी बचत पूँजीपतियों को मिल जाती हैं।

अस्तु, इस प्रकार लाभ होता तथा बँटता है। साधनों के स्वामित्व के कारण ही पूँजीपतियों को लाभ का भाग देना पड़ता है। ऐसा स्वामित्व कानूनों द्वारा सुरक्षित है। वह अधिक प्रभावशाली भी है। और इसी कारण उनका भाग अधिक होता हैं।

उपज की रोक थाम

वैसे तो पूँजीपतियो को अपनी सम्पत्ति अथवा उपज के इन साधनों का प्रयोग करवाने का प्रोत्साहन देने के लिये ही यह लाभ का भाग दिया जाता है। परन्तु इसके अतिरिक्त इस लाभ द्वारा सगठन तथा नीति की रोक थाम का काम भी होता है और वे ही पदार्थ बनाने दिये जाते है जिनकी बिक्री से लाभ हो। पदार्थों

के बटवारे का उपरोक्त ढंग पूँजीवादी संगठन का एक आवश्यक अङ्ग ही है। पूँजीवादी व्यवस्था में यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्त्री पुरुषों को न केवल उनके काम के लिये उपज का कोई भाग दिया जावे, वरन् साधनों के स्वामित्व अथवा पूँजी के लिये भी—क्योंकि पूँजीपतियों को लाभ, सूत अथवा भाड़ा न देने से ऐसे संगठन मे काम करने की इच्छा अथवा उपज की रोक-थाम का ही अन्त हो जावेगा।

परिणाम

उपज का यह बड़ा भाग इन मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हाथ में दे देने के कारण ही पूँजीवाद में बड़े अवगुण तथा हानि होती हैं। क्योंकि इस के कारण, संगठन मे जनता की आवश्यक मांगो का विचार किये बिना देश की आय का बटवारा करना पड़ता है। मनुष्यों की माँगों और पदार्थों के मूल्य में इसी लिए इतनी भिन्नता जिससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती हैं उसमें धनी मनुष्यों की सजावट इत्यादि के व्यर्थ पदार्थ बनाना लाभप्रद तथा असंख्य जनता को जीवन के आवश्यक पदार्थ बनाना लाभप्रद न होना सम्भव होता है। स्पष्टमें ऐसा भले ही न हो, परन्तु वास्तव में, देश की उपज अथवा आय के इस प्रकार बुरे बटवारों के कारण ही पूँजीवाद में सहस्रों देशवासियों को बेकार रहना पड़ता है। काम मिलने ही नही पाता।

यही कारण है कि पूँजीवादी संगठन की दिन प्रति दिन अवनति होती जाती है और यहाँ तक कि अब उसके अनुसार काम हो ही नहीं सकता है।

पूँजीवाद का परिवर्तित रूप

स्वामित्व भाग

उपज के साधनों के स्वामित्व के लिये पूँजीवाद मे उपज का एक बड़ा भाग पूँजीपतियों को दिया जाता है। भाग की अधिकता के कारण ही पूँजीवाद में इतनी खींच तान बढ़ गई है जिससे कार्य्य होना ही कठिन है। पूँजीपतियों का भाग इतना अधिक है कि अन्य काम करनेवालों के लिये कुछ बचता ही नही। इसका पूरा पूरा ज्ञान तभी होता है जब पूँजीपतियों के भाग को रुपये के रूप में न देखकर पदार्थों मे उसका हिसाब लगाया जावे। संगठन की निस्सारता तथा असगतता भी तभी स्पष्टतया सिद्ध होगी। रुपये के हिसाब में एक मनुष्य का दूसरे से सहस्रों गुना अधिक व्यय करना अव्योहारिक प्रतीत नहीं होता। ऐसा होता ही रहता है, उचित अथवा न्याय पूर्ण भले हो न हो। उपज की रीति की गड़बड़ी का उससे पूरा पूरा अभास नही हो पाता। जन साधारण की क्रय शक्ति के बटवारे मे तो इससे कमी नहीं होती है, उसकी कुल संख्या तो वही रहती है चाहे सहस्र मनुष्यों को एक एक रुपया मिले अथवा एक मनुष्य को एक सहस्र मिल जावें। परन्तु इसी कारण पदार्थों की माँग मे भी कोई कमी न होना चाहिये, व्योहार मे ऐसा नही होता।

एक मनुष्य को बहुत अधिक धन मिल जाने और दूसरों के

कम मिलने से पदार्थों की माँग में कमी हो जाती है। और इसे ही दूर करने का उपाय ढूँढ़ना है।

असमान आय

असमान आय के बँटवारे का परिणाम पदार्थों के रूप में देखने से स्थिति बिल्कुल दूसरी हो जाती है। किसी मनुष्य को सहस्त्र गुना धन मिलना भले ही अव्योहारिक न प्रतीत हो परन्तु उसे दूसरों से सहस्त्र गुने अधिक पदार्थ मिलना असंगत तथा व्यर्थ ही होता है। क्योंकि सम्भवतः वह उन सब का प्रयोग नहीं कर पावेगा। उदाहरण के लिये भोज्य किसी पदार्थ को ही ले लीजिए, एक मनुष्य अधिक से अधिक दूसरे मनुष्य से द्विगुना भोजन कर सकेगा परन्तु सहस्त्र गुना नहीं। इसकी तो बात ही क्या, दस गुना भी भोजन कभी नहीं कर सकता। इसी प्रकार वस्तु तथा निवास-स्थान के सम्बन्ध मे भी है। कोई मनुष्य एक समय में सहस्त्रों पलँगों पर सो नहीं सकता और न इतने पलंगों की उसे आवश्यकता ही हो सकती है। सहस्त्रों वस्त्र, घर इत्यादि की आवश्यकता भी उसे नहीं हो सकती। यह ठीक है कि धनी लोग बहुत कुछ व्यर्थ तथा अनुपयोगी व्यय करतेहैं परन्तु वे तो भी किसी प्रकार तो भी उस अनुपात में पदार्थों का प्रयोग नहीं कर सकते जो उनकी तथा अन्य मनुष्यों की आय मे रहता है। और यदि इस प्रकार व्यय करें भी, तो उसे अपव्यय तथा दुर्व्यय के अतिरिक्त अन्य कुछ कहा नहीं जा सकता।

व्यर्थ पदार्थ

ऐसी स्थिति के आर्थिक परिणामों पर विचार करना आवश्यक है। लाभ, लगान, सूत, वेतन अथवा मजदूरी इत्यादि द्वारा पर्याप्त क्रय शक्ति का बटवारा पूँजीवाद में भी होता है। इसी लिये कि सब बने पदार्थ मोल लिये जा सकें। परन्तु बटवारा के इस ढंग के कारण सब पदार्थों की खपत नहीं हो पाती।

यह स्थिति तो तब है जब देश की उपजाऊ शक्तियों का पूरा पूरा प्रयोग भी नहीं हुआ है। पूरे प्रयोग द्वारा बनने वाले पदार्थों का तो कहना ही क्या है।

इसका मुख्य कारण बटवारे के आय की इतनी असमानता ही है। कुछ मुट्ठी भर धनी लोगों को इतना अधिक धन मिल जाता है कि मोल लेने की शक्ति होने पर भी वे उतने पदार्थ मोल नहीं लेते। उन्हे उतनी आवश्यकता ही नही होती। इसके विपरीत असंख्य मनुष्यों को उपज का भाग इतना कम मिलता है कि आवश्यकता होते हुए भी वे पदार्थ मोल ले नही पाते। उनमे पदार्थ मोल लेने की सामर्थ्य नही होती। धनी पदार्थों को लेते नही, क्योंकि उनके लिये वे पदार्थ व्यर्थ तथा अनुपयोगी होते हैं, और निर्धन उन्हे ले नही सकते, क्योंकि उनके पास इतना धन ही नहीं होता। और इस प्रकार पदार्थ विक ही नही पाते। वे व्यर्थ ही पड़े रहते है और इसी कारण उनके बनाने मे लाभ नही होता। अस्तु यह तो नही कह सकते कि पूँजीवाद में क्रय शक्ति का पूरा २ बटवारा हो जाने से उसमें कोई बुराई रहती ही नहीं। उदाहरण से यह और भी स्पष्ट हो जाता है।

मान लो कि ५) ५) रुपये वाले १०० पलंग बनाए गए और उनसे ५००) की क्रय शक्ति का बटवारा हुआ। अब यदि इसमे से ४००) एक मनुष्य को दिया गया। और शेष १००) को ५० मनुष्यों मे २) रुपये के हिसाब से बाँटा गया। तो यह नहीं कहा जा सकता कि सब पलंग विक हो जावेंगे। पचासों मनुष्य २।५ पलंग नहीं मोल लेंगे और न एक मनुष्य ८० पलंग ही। इन पचास में से कोई २ एक पलग भी नही ले सकेंगे और एक मनुष्य को ८० की आवश्यकता तो हो हीं नहीं सकती। इस प्रकार बहुत से पलंग बिकने से निस्संदेह बच जावेंगे। क्रय शक्ति के असमान और बुरे बटवारे का भी वही परिणाम होगा जो कम शक्ति बटने से होता है। यही कारण है कि

पूँजीवाद में उपज के साधन रहते हुए भी बहुत से आवश्यक पदार्थों की माँग पूरी नहीं हो पाती। और कुछ पदार्थ आवश्यकता से कही अधिक बन जाते हैं। निर्धनता तथा पदार्थों की अधिकता एक साथ ही रहती है। मशीनो से पूरा २ काम नही लिया जाता और बहुत से काम करनेवालों को काम भी नही मिलता।

परन्तु यदि व्योहार में पूर्ण रूप से ऐसा ही होता तो पूँजीवाद का कभी का अन्त हो गया था और चूँकि पूँजीवाद इतने दिनों से लगातार चल रहा है, इन कठिनाइयो को दूर करने का कोई न कोई उपाय अवश्य ही ढूँढ़ लिया गया होगा। इस बात में थोड़ी सत्यता भी है। धनी व्यक्ति अपनी पूँजी लगाते हैं और प्राप्त धन से पदार्थ मोल लेते है। उन्हे सब धन संचय ही करना नही रहता। परन्तु प्रयोग के पदार्थों के मोल लेने मे भी वे अपना अधिक धन व्यय नही करते। वे उससे उपज के नए २ साधन मोल लेते हैं। अर्थात् उपज के साधनों के स्वामित्व से प्राप्त धन से वे उपज के और नए नए साधन मोल लेते हैं और इस प्रकार इन साधनों पर उनका स्वामित्व दिन प्रति दिन बढ़ता ही जाता है। पूर्वोक्त उदाहरण मे ४००) रुपए पानेवाला व्यक्ति ८० पलग तो मोल नही लेगा। परन्तु नए ढंग के पलंग बनाने की मशीन अथवा कारखाना खोलने मे उस धन को लगावेगा और इस प्रकार उपज का प्रयोग पदार्थों से हटकर उपज के साधनों की ओर झुकता है। साधारण शब्दों में लगान, सूत अथवा लाभ के धन का व्यय न तो प्रयोग के पदार्थों के मोल लेने मे होता है और न संचय ही किया जाता है। वह फिर से धन्धा में लगाया जाता है। इससे यह अभिप्राय नही कि पूँजीपति धन संचय करते ही नही और सब का सर्वथा व्यय ही कर डालते हैं अथवा धन्धों मे लगा देते हैं। वे संचय भी करते हैं और इस प्रकार भी समाज की उन्नति में बाधक होते हैं।

उपज का झुकाव साधनों के मोल लेने अथवा बनाने मे होना प्रत्यक्षतया वर्तमान कठिनाई को दूर करने का उपाय प्रतीत होता है। क्योंकि इससे समाज की क्रय शक्ति में कोई कमी नहीं होती और उपजाऊ शक्तियों का पूरा पूरा प्रयोग भी होता है। केवल प्रयोग के पदार्थों के स्थान मे उपज के साधन अधिक से अधिक संख्या में बनते अथवा मोल लिये जाते हैं। उनका अनुपात समाज के व्यय और संचय के अनुपात पर ही आश्रित रहता है। पूँजीवाद मे यह अनुपात भी बटवारे की असमानता के अनुपात से ही निश्चित होता है। क्योंकि स्वभावतः धनी लोग धन संचय ही करेंगे और निर्धनों को सब रुपया व्यय ही करना पड़े। एक बात और भी है साम्प्रति पूँजीपतियों का भाग उन्हे पृथक् पृथक न देकर, पूँजीपति वर्ग अथवा उसकी भिन्न भिन्न संस्थाओं, स्टाक कम्पनी, ट्रस्ट, बैंक इत्यादि को दिया जाता है ताकि वह फिर उन्ही धन्धों मे लग सके। और यह संस्थाये प्राप्त धन को पूँजीपतियों को न देकर; उसे उसी धन्धे मे लगा भी देते हैं इस प्रकार प्रथम बाँट और फिर उन्ही पूँजीपतियों से लेने की आवश्यकता भी दूर हो जाती है। परन्तु चाहे वे पूँजीपति उस धन को स्वयं धन्धों में लगावें अथवा इन संस्थाओं द्वारा वह धन्धों मे लगे, इससे कोई विशेष अन्तर नही पड़ता। सिद्धान्त तो वही रहता है।

वास्तविक कठिनाई तो यह है कि इस प्रकार धन्धों मे धन का लगना भले ही एक निश्चित काल के लिये पूँजीवाद को चलने दे, परन्तु परिस्थित दिन प्रति दिन विकट ही होती जाती है। उपज का अन्तिम ध्येय तो प्रयोग है और जब यह प्रयोग ही नही हो पाता, वरन ज्यों ज्यों उपज के साधन अधिक होते हैं, उनमे अधिकतर धन लगता जाता है, प्रयोग के पदार्थों के बनने और उनके प्रयोग मे उतनी ही कमी हो जाती है। और उससे होने वाले सब परिणाम बढ़ते ही जाते हैं। क्योंकि पूँजीवाद मे इन नए उपज के साधनों का स्वामित्व भी व्यक्तियों के हाथ मे ही रहता है और उससे प्राप्त लाभ फिर प्रयोग के पदार्थों को मोल लेने अथवा उनके प्रयोग मे न लग

कर उपज के साधनों मे ही लगता है। यह तीसरे ढंग के उपज के साधन भी व्यक्ति विशेष के हाथ मे ही रहेंगे और उससे प्राप्त लाभ का प्रयोग भी वैसाही होगा। इसी प्रकार यह गाड़ी चलेगी और पूँजी संचय बढ़ता जावेगा। उपजाऊ शक्तियों के एक विशेष ढङ्ग के प्रयोग से ही तो पूँजी बनती है। और वह ढङ्ग यही है कि उससे नए उपज के साधन जमा हो और फिर बने, इत्यादि इत्यादि ऐसे ही क्रम चलता रहे। पूँजीवाद का उद्देश्य तो लाभ कमाना था। और लाभ उठाने मे पूंजी संग्रह होने लगा जिसके अर्थ लाभ उठाने वालों के हाथ मे रुपए के स्थान मे एक प्रकार के पदार्थों देना होता है। यह पदार्थ उपज के साधन ही है।

पूँजीवाद के समर्थकों का कहना है कि पूँजीवादी सङ्गठन का उद्देश्य लाभ कमाना है। पदार्थ उत्पन्ना करना नही। यह तो उसका साधन मात्र है। पदार्थ इसीलिए बनाए जाते हैं ताकि उनकी बिक्री द्वारा लाभ उठाया जा सके। इसके अर्थ तो यह होते हैं कि पूँजीवाद का उद्देश्य पूँजी संग्रह के अतिरिक्त और कुछ है ही नही। और पूँजी संग्रह तो उपज के साधनो को उन्नति बतलाने का एक ढङ्ग है। क्योंकि पूँजीवाद मे लाभ, उपज के साधनों के रूप मे ही रहता है। और उसी मे उसका अनुमान लगता है। इस प्रकार पूँजीपतियों के कुल लाभ का अनुमान नए बने हुए उपज के साधनों से होता है। इसीलिये पूँजीवाद का उद्देश्य नए उपज के साधन बनाना है ऐसा भी कहा जा सकता है।

पूँजी संग्रह

ऐसे पूँजी संग्रह से भी एक बड़ी हानि होती है। प्रचलित साधनों के स्थान मे आनेवाले नए साधन इनसे कहीं भिन्न होते हैं। उनके द्वारा काम भी अधिक होता है। मजदूरों का काम भी अधिकतर, अन्य मशीनों से ही लिया जाता है। और इसी कारण उनसे बने पदार्थों की आय का बटवारा भी मशीन और उनके

स्वामियो मे ही अधिक होता हैं। पदार्थ बनाने मे जिससे काम अधिक लिया जावेगा उपज का भाग भी उसे ही अधिक मिलेगा। और चूँकि इन नई मशीनो मे द्वारा पदार्थ बनाने मे मशीनों तथा पूँजी को ही अधिक सहायता रहती है, उपज का अधिक भाग भी उन्हे ही मिलता है। वेतन और मजदूरी के रूप में मज़दूरों को कम दिया जाता है क्योकि उनका काम कम रहता है। इसके अतिरिक्त, मजदूर प्राप्त धन का व्यय पदार्थों मे कर डालते हैं। परन्तु पूँजीपति उससे अन्य उपज के साधन लेगे जो इनसे भी अधिक मशीन द्वारा काम कराने वाले होगे।

इसके परिणाम स्वरूप उपज का और अधिक भाग इन पूँजीपतियों को मिलेगा और उतनाही मज़दूरो का कम होता जावेगा। इसी प्रकार यह क्रम चलता रहेगा। वरन् दिन प्रति दिन इसका वेग बढ़ता ही जावेगा। जिससे बटवारे की असमानता और उसके दुष्परिणाम और भी बढ़ेगे।

संगठित पूँजी

उपज के साधनों के बढ़ने से एक परिणाम और भी होता है। सीधे, सरल तथा छोटे २ साधनों के स्थान मे बड़े और पेचीदा होते जाते है। क्योकि बटवारे के इस ढंग के कारण उनका स्वामित्व, बिखरा हुआ तथा पृथक पृथक व्यक्तियों के हाथ मे न रहकर संगठित, संयुक्त तथा सर्वाधिकार सुरक्षित हो जाता हैं। पूँजीपति ही नए साधन मोल ले सकते है। और इन पूँजीपतियों मे भी अधिक धनी व्यक्तियों का पूँजी की अधिकता के कारण अधिक ही अधिक भाग रहता है। पूँजीवादी देशो मे जहाँ पहले छोटे छोटे साझे के कारखाने थे। उनके स्थान में आज बड़ी २ कम्पनियाँ, कारपोरेशन, और सेन्डीकेट बन गए है। बड़ी शीघ्रता से यह काम हुआ है और प्रति दिन होता जाता है।

ऐसे संगठन का परिणाम और भी बुरा हुआ। बहुत से पूँज़ीपतियों की संख्या घटकर थोड़े से बहुत धनी ही पूँजीपति रह गये

जिससे पूंजीपतियों का भाग इन मुट्ठी पर धनी व्यक्तियों में ही बटा। और इस प्रकार सैकड़ों छोटे २ पूंजीपति भी उपज से पृथक हुए और उन्हे भी आय काम मिलने लगी। जिसके फल स्वरूप उनकी आवश्यक पदार्थ मोल ले सकने की शक्ति कमी हुई।

पहिले मजदूर फिर छोटे छोटे पूँजीपति, और फिर उनसे बड़े पूँजीपति, इसी प्रकार धीरे धीरे असंख्य देशवासी अपनी साधारण आवश्यकताओं की माँगों को पूरा करने की शक्ति से बंचित होते जाते हैं।

सर्वाधिकार पूँजीपति

उपज के साधनों का कुछ थोड़े मनुष्यों के हाथ में जमा हो जाने का इससे भी अधिक हानिकारक परिणाम यह होता है कि इस प्रकार भिन्न भिन्न उपज करने वालो मे परस्पर स्वतन्त्र प्रतिद्वन्दता नहीं रह पाती। जो पूँजीवाद का एक मुख्य गुण है। परस्पर प्रतिद्वन्दता के कारण ही तो लाभ की खींच तान से पूँजीवादी संगठन चलता रहता था। उपज पर सर्वाधिकार (Monopoly) अथवा अर्ध अधिकार (Semi Monopoly) होने पर, ऐसी प्रतिद्वन्दता का अन्त ही हो जाता है। और उसके कारण संगठन के अन्य प्राकृतिक नियमों में भी परिवर्तन होता है।

पूँजीवादी संगठन मे ऐसी स्थिति का होना स्वाभाविक तथा अवश्यम्भावी ही है। ऐसी स्थिति में बने हुए पदार्थों की विक्री और भी कठिन हो जाती है। जब देश के उपजाऊ साधनों की उन्नति इस स्थिति पर पहुँच जाती है कि वे कुछ धनी व्यक्तियों के हाथ में ही जमा हो जावे पूँजीपतियों की परस्पर प्रतिद्वन्दता का अन्त हो जाता है।

जनता अधिकतर निर्धन और बेकार होती है। देश के बने हुए पदार्थों की विक्री की खोज अन्य देशों में की जाती है। देश

के बाजारों को तो अपने कार्य्यों से वे पहिले ही नष्ट कर चुके होते हैं। और इसी कारण अन्य देशों में अपने पदार्थों की खपत करना और उसके लिये राजनैतिक आधिपत्य प्राप्त करने की आवश्यकता, देश की उद्योगिक उन्नति के पश्चात प्रायः प्रत्येक पूँजीवादी देश को होती है। जिसके कारण अन्त राष्ट्रीययुद्ध तथा महायुद्ध होते हैं। उनका होना अनिवार्य्य ही हो जाता है क्योंकि ऐसी स्थिति में पूंजीवाद ही तो साम्राज्यवाद का रूप धारण करता है। साम्राज्यवाद के अवगुण तथा उससे होनेवाली हानि कितनी भयंकर होती है यहाँ पर बतलाना सम्भव है और न आवश्यक ही। पूंजीवादी उन्नति नही अन्तिम निश्चित परिणाम वर्तमान साम्राज्यवाद है। देशों की पारस्परिक वैमनस्यता, आर्थिक द्वन्द, राजनैतिक कलह, सांसारिक महायुद्ध, जिसके आवश्यक भावी तथा अनिवार्य्य फल है। पूंजीवाद का अन्तिम परिवर्तित रूप भी यही है।

अन्तिम परिणाम

पूंजीवाद के प्रारम्भ मे उपज के साधनओं की उन्नति की प्रेरणा लाभप्रद वस्तु थी। यह एक ढंग था जिसके द्वारा देश की उद्योगिक उन्नति के लिए सरलता से धन प्राप्त हो जाता था तथा लाभ के लोभ के कारण दिन प्रति दिन उसकी उन्नति होती जाती थी।

परन्तु देश की उपजाऊ शक्तियों की पूर्णतया उन्नति हो जाने पर पूंजीवाद का यह गुण अथवा अवगुण हो कहिए, समाज के लिए श्राप सा हो जाता है। देश मे उपज के साधनों के प्रर्याप्त संख्या में ,होने पर अधिक संख्या मे उन्हे और बढ़ाना व्यर्थ होता है। जब उनसे पदार्थों की अधिकता व निश्चितता प्राप्त हो जाती है और जनता निर्धन तथा बेकार रहती है।

इस स्थिति में उपज के साधनों से प्राप्त धन (लाभ) फिर उपज के साधनों के बनाने मे ही [लगता चलता हैं। जो फिर उसी काम में आता है और इसी प्रकार ऐसा तो तभी' होगा जब कि इस प्रकार

साधनों की लगातार उन्नति करना सम्भव भी हो। और उपजाऊ शक्तियों का प्रयोग आवश्यक पदार्थों मे न होकर बराबर अधिक से अधिक अनुपात में साधनों की उन्नति में ही लगे।— परन्तु वास्तव में एक निश्चित मात्रा के उपरान्त यह सम्भव नहीं रहता और उसके पश्चात उपजाऊ शक्तियों की ऐसी उन्नति ही असम्भव हो जाती है। क्योंकि उससे लाभ नहीं होता। वर्तमान पूँजीवादी देश में इस समय स्थिति कुछ ऐसी हो सी है। उपज के साधनों को बढ़ाना लाभप्रद नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीवाद का अन्तिम ध्येय। केवल उपज के साधनों की उन्नति ही नहीं वरन आवश्यकता और प्रयोग के पदार्थों को अधिक संख्या में बनाना और उसे जन साधारण में बाँटना भी है। वास्तव में किसी भी आर्थिक संगठन का यही ध्येय हो सकता है।

साम्यवादी तथा समाजवादियों का भी यही कहना है। पूजीवाद देश की उपजाऊ शक्तियों को बढ़ती अथवा प्रारम्भकि उद्योगिक उन्नति करने का अच्छा ढंग हो सकता है। परन्तु इससे अधिक उसका काम नहीं। प्रारम्भिक उद्योगिक उन्नति हो जाने पर संगठनके अवगुण दिखाई देने लगते हैं और पहिले के दिखावटी गुण प्रत्यक्षतया अवगुण हो जाते है।

लाभ की इच्छा द्वारा ही प्रारम्भ में जनता उद्योगिक उन्नति के लिये प्रेरित होती हैं। परन्तु देश की उन्नति के माने तो यह हैं कि जनता के आवश्यक पदार्थ, प्रयोग के लिये अधिक २ संख्या में मिलें। वास्तव में होता क्या है ?

देश की उद्योगिक उन्नति हो जाने पर पूँजीवाद में जनसंख्या के ९० प्रति शत मनुष्यों को उसकी उन्नति से कुछ लाभ नहीं होता। वरन परिस्थिति उलट ही जाती है। जो बातें किसी समय में उन्नति के लिये आवश्यक थीं, वे ही अब उसके बाधक हो जाती है।

किसी भी आर्थिक परख के लिये यह आवश्यक है कि उसका

परिणाम व स्वरूप केवल उसी समय ही न परखा जावे वरन यह भी देखा जावे कि भविष्य में इसका रूप और परिणाम क्या रहता है, तभी उसकी पूरी परख हो सकती है, अन्यथा नहीं। पूँजीवाद का प्रारम्भिक रूप भले ही सुन्दर, आकर्षक तथा लाभप्रद हो, परन्तु उसका बाद का स्वरूप और विशेषकर अन्तिम रूप तो निश्चित हानिकारक वरन घातक ही होता है। साम्राज्यवाद तथा उसके परिणामों पर द्रष्टि डालने से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

वर्ग

अथवा

श्रेणी संघर्ष

पूँजीवादी संगठन में, उपज के साधनों पर व्यक्ति विशेष का स्वामित्व रहता है। वे लाभ के लिये उनका प्रयोग करते है। उपज में पूँजीवादी संगठन रहने के कारण बँटवारे का भी पूँजीवादी ढङ्ग ही रखना पड़ता है। और इसी कारण पूँजीपतियों का उपज में एक बड़ा भाग रहता है।

ऐसे बटवारे के कारण समाज दो वर्गों में विभाजित सा हो जाता है। एक तो वे जो अपने काम के पुरस्कार स्वरूप निश्चित वेतन पाते है। और दूसरे वे जिन्हे केवल साधनों के स्वामित्व के कारण भाग मिलता है। प्रथम मजदूर और द्वितीय पूँजीपति कहलाते है। पूँजीवादी बटवारे का ही यह परिणाम है। ऐसे संगठन में इनका होना प्रायः अनिवार्य्य ही है। यही नहीं, वरन् इनमे परस्पर काफ़ी संघर्ष भी रहता है।

इन वर्गों और उनके संघर्ष को अस्वीकार करना अथवा उसे भुला देना, जानबूझ कर भूल करना ही होगा। पूँजीवादी उपज ही से इनका जन्म होता है। बटवारे का उपज से अटूट

सम्बन्ध है और इसी कारण कहना पड़ता है कि वर्गों का होना पूँजीवादी संगठन का एक निश्चित परिणाम ही है।

स्थगित फल

प्रायः कहा जाता है कि साधनो के स्वामित्व के लिये प्राप्त धन और मजदूरों के वेतन मे विशेष भिन्नता नही। क्योंकि दोनों ही काम के पुरस्कार स्वरूप दिये जाते हैं। आज के साधनों के स्वामी कभी मजदूर ही थे और मजदूरी से प्राप्त धन को बचाकर ही वे आज ऐसे स्वामी बन गये हैं। पिछले वर्षा मे अपनी मजदूरी के धन को पूरा पूरा व्यय न करके, वे उसमे से थोड़ा थोड़ा संचय करते रहे। और इस संचित धन से ही वे ऐसे साधनों को मोल ले सके है। इसी कारण वे भी मजदूरों को भाँति ही लाभ का भाग पाने के अधिकारी है। मज़दूरों को वर्तमान कामों के लिये धन मिलता है और पूँजीपतियो को उनके पिछले वर्षो के काम के लिये स्वामित्व के रूप मे लाभ का भाग मिलता है।

गत वर्षों को मज़दूरी से प्राप्त धन संचय करने का यह पुरस्कार है। या दूसरे शब्दो मे पिछले कामों का यह स्थगित फल है।

पूँजीपति कैसे बने

देखें यह तर्क कहाँ तक सच और वास्तविक है? बहुत पहिले ऐसा कहा जा सकता था कि अच्छे वेतन पाने वाले मजदूरो और स्वतन्त्र कारीगरो की मजदूरी की बचत से कुछ उपज के साधनो की थोड़ी उन्नति हुई। परन्तु अब यह तर्क उठाना भूल ही है।

ब्रिटेन तथा अमेरिका ऐसे देशो में जहाँ उपज के साधन विशेष उन्नति पर है, इस तर्क का कोई महत्व नही। सैकड़ो वर्ष पूर्व भी वहाँ के साधनों की उन्नति जमीदारों व ताल्लुकेदारो की आय की बचत

से ही हुई थी। यह आय कुछ तो उनके स्वामित्व से मिली और कुछ व्यापारियो द्वारा नई बस्तियो के लूटमार से प्राप्त हुई थी।

अमेरिका के सम्बन्ध मे स्थिति बिल्कुल स्पष्ट ही है। वहाँ उद्योगिक उन्नति मज़दूरों अथवा किसानो के धन की बचत से हुई हो, ऐसी बात नहीं। वहाँ कुछ पूँजी ब्रिटैन से गई और वहाँ के उद्योग धन्धों मे लगी और कुछ दक्षिणी देशवासियों (Negro) के काम से प्राप्त लाभ की बचत से हुई।

गत वर्षो के काम की बचत से यह पूँजीपति हुए हों अथवा इसीसे देश को उद्योगिक उन्नति हुई हो, यह बात कदापि नही।

अमेरिका और ब्रिटैन दोनों ही मे अधिकतर पूँजीपति वर्ग मौरूसी ही रहा है। उसके सदस्यों ने आय, अपने पूर्वजों से पाई है। अथवा उपज के साधनों को बढ़ाकर, उसके स्वामित्व से स्वयं प्राप्त की है। गत वर्षो मे मज़दूरी करके और उससे प्राप्त धन की बचत से कल कारखाने इत्यादि चलाये नहीं गये है।

कुछ उदाहरण ऐसे भी अवश्य मिलते है जिनमे कुछ व्यक्ति स्वय अपने परिश्रम से पूँजीपति बने हो परन्तु उनमे भी ऐसा कोई नहीं जो मज़दूरी का एक एक पैसा बचा कर पूँजीपति हुए हों। उनकी वर्तमान बड़ी पूँजी, या तो उनके भाग्य के कारण है जो उन्हे अपने पूर्वजों से मिला है अथवा प्रारम्भ मे ही उन्हे कोई ऐसा अवसर प्राप्त हुआ है, जब उन्होंने उपज के किसी साधन का लाभ के साथ प्रयोग कर के उससे विशेष धन प्राप्त कर लिया है। और उसे साधनो के मोल लेने मे लगाकर वे पूँजीपति बन गये है मज़दूरी के पैसे की बचत से अथवा गत वर्षों के कामों के स्थगित फल स्वरूप, पूजीपति कोई विरले ही बना हो।

वर्ग विभाजन

कौन व्यक्ति किस वर्ग का है इसका निर्णय आय की अधिकता

अथवा न्यूनता पर नही रहता। इसका निश्यच तो इस बात पर होता है कि आय उसे किस प्रकार मिलती है। उदाहरणार्थ कुछ मजदूर किन्ही पूजीपतियों से अधिक वेतन पाते है। निपुण तथा विशेषज्ञ मज़दूरों को ५००) अथवा इससे भो अधिक वेतन मिलता है। बुद्धि से कार्य्य करने वाले इससे भी अधिक वेतन, पाते अथवा पास करते हैं। परन्तु ये पूजीपति नहो कहे जा सकते। इसके विपरीत कुछ पूजोपतियों के पास साधन इतने कम है कि उनको भाड़े, लगान अथवा सूत के रूप मे बहुत कम धन मिलता है। परन्तु मज़दूरों से धन कम मिलने पर भो यह पूजोपति ही रहेगे और वे मज़दूर ही कम धन मिलने से ये पूजीपति मजदूर नही कहे जा सकते और इसी प्रकार अधिक वेतन मिलने पर भी वे मज़दूर पूंजोपति नहीं हो सकते। चाहे उनकी आय पूँजीपतियों से कितनी ही अधिक क्यों न हो। अथवा उनके स्वभाव मे ही अन्तर क्यों न हो जावे क्योंकि प्रायः ऐसा देखा गया है, कि अधिक धन मिल जाने से मनुष्य स्वभाव का झुकाव पूँजीपतियों का सा होने लगता है। साधारणतया मज़दूरों की आय कम और अधिक रहती हैं, ऐसे उदाहरण सम्भवता कम मिलेंगे जिन में, मज़दूरों की आय पूँजीपतियों से अधिक हो। परन्तु तो भी वर्गों के विभाजन मे आय की अधिकता अथवा न्यूनता का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। वर्ग शब्द धनी अथवा निर्धनता का प्रयायवाची नहीं। इसका सम्बन्ध आय के आधार से हो रहता है। और उसी के अनुसार कोई व्यक्ति एक अथवा दूसरे वर्ग में कहा जाता है। ऐसा सम्भव हैं कि समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति हो जिन्हे दोनों प्रकार से थोड़े बहुत आय मिलती हों। और उन्हे पूँजोपति अथवा मज़दूर दोनों ही कह सकते हैं।

ऐसे व्यक्ति अधिकतर बुद्धि से कार्य करनेवालो मे ही मिलेंगे। परन्तु इनकी संख्या अधिक नही रहती और इसी कारण उनका विशेष उल्लेख भी नही किया गया और न उन्हे कोई पृथक वर्ग ही दिया गया।

कोई विशेष वर्ग न रहने पर भी ऐसे व्यक्तियों का अध्ययन करने से इस बात का ज्ञान होता है कि आय के आधार का मनुष्य के स्वभाव तथा उनकी विचार धारा पर क्या और किस प्रकार प्रभाव पड़ता है। साधारणतया मनुष्यों की विचार धारा आय के अधार पर ही निर्भर रहती हैं। यह देखा गया है कि ऐसे व्यक्तियों के विचार कुछ मज़दूरों और कुछ पूँजीपतियों के से होते है अथवा दोनों का मिश्रण रहता है। ऐसे व्यक्ति मध्यम श्रेणी के कहलाते है। संख्या मे कमी के कारण, वर्ग विचार से इनका अधिक महत्व नहीं होता और इसी कारण तीसरा वर्ग ऐसा नाम न देकर प्रायः दो ही वर्ग विशेष कहे जाते है। एक मजदूर दूसरा पूँजीपति।

वर्गविभाग का परिणाम

समाज का इस प्रकार दो बड़े २ वर्गों में विभाजित होना, राजनैतिक व आर्थिक क्षेत्र मे बड़े महत्व का है। और उसका परिणाम भी महत्व पूर्ण ही होता हैं। यह तो स्पष्ट ही हैं कि वर्गों के स्वार्थ समान नही होते। वरन् एक दूसरे के विपरीत रहते हैं। जितना अधिक भाग मज़दूरों को वेतन अथवा मज़दूरी के रूप में दिया जावेगा, पूँजीपतियों के लिये भाड़ा, लगान व सूत के रूप में उतना ही कम बचेगा। और इसी प्रकार जितना अधिक भाग पूँजीपतियों का होगा, मज़दूरों के हिस्से में उतनी ही कमी करनी पड़ेगी। यह भी देखा गया है कि पूँजीपतियों का भाग बहुत अधिक और मजदूरों का इतना कम होता है कि उससे वे अपना जीवन निर्वाह तक नहीं कर पाते। केवल किसी प्रकार अपने को काम कर सकने के योग्य रख पाते हैं क्योंकि उसके विना तो उनकी जीविका ही चली जावे। इसके विपरीत पूजीपतियों का भाग इतना अधिक होता है कि वे जीवन का पूरा आनन्द ही नहीं उठाते, वरन अधिक विलासता मे पड़कर प्रायः उसका दुरुपयोग भी करते हैं। इस भाँति एक वर्ग केवल अपने स्वामित्व के कारण प्राप्त धन से असंख्य भोगों का भोग करते हुए, विलासता का जीवन

व्यतीत करता है; जब कि दूसरा वर्ग (मज़दूर) बड़े परिश्रम और अधिक समय तक काम करके भी केवल इतनी ही आय प्राप्त कर पाता है कि वह किसी प्रकार रूखी सूखी रोटी खाकर अपना पेट भर सके और बहुतों को तो वह भी प्राप्त नहीं होता। तिस पर भी उसकी जीविका सुरक्षित नहीं रहती। काम से पृथक कर दिये जाने पर उसे यह रूखा सूखा भोजन मिलना भी दुर्लभ हो जाता है।

निश्चित अन्याय

समाज के बहुत व्यक्ति और विशेषकर मज़दूर वर्ग ऐसी व्यवस्था को अन्याय पूर्ण समझता है। गत ३०० वर्षों की ऐतिहासिक तथा उद्योगिक उन्नति के अनुभव से प्रायः अधिकतर व्यक्तियों के ऐसे विचार होते जाते है कि मनुष्य मनुष्य मे ऐसी असमानता का रहना अवश्य हानिकारक है और इसे दूर होना चाहिये भले ही वे उसके उपाय अथवा अन्य व्यवस्था, पूर्ण रूप से निश्चित न कर सके हों।

पूंजीवाद के समर्थक पूँजीवादी व्यवस्था के इस अंग पर अब अधिक वाद विवाद नहीं करते। उनका प्रयत्न अब इसे भुलाने का ही रहता है। स्थिति का उल्लेख होने पर उसे आवश्यक बुराई ऐसा कह देते हैं। और ऐसा ही उसे समझते भी है। स्वीकार भी कर लेते है कि ऐसी असमानता अनुचित है परन्तु फिर भी व्यवस्था के अन्य गुणों का विचार करते हुए उसे छोड़ना नहीं चाहते। वरन इसे प्रचलित रखने का यह मूल्य बतलाते हैं। पूंजीवाद मे कौन से ऐसे गुण हैं जिनके कारण इतना असह्य क्लेश सहते और समाज को इस प्रकार नष्ट होते देखकर भी उनके विचार परिवर्तित नहीं होते, यह तो वे ही जान सकते है। अधिक विचार विनिमय के उपरान्त भी हमारी तो यही धारणा है कि ऐसी व्यवस्था का शीघ्रातिशीघ्र अन्त होना चाहिये।

कार्य की इच्छा

यह भी कहा जाता है कि आय में असमानता को दूर कर देने से मनुष्यों में काम करने की इच्छा न रहेगी अथवा उसमें बहुत कमी हो जावेगी। जिससे उपज घटेगी और पदार्थों के अभाव से जनता को कष्ट उठाना पड़ेगा तथा उपज का कोई नियंत्रण ही न चल सकेगा।

आश्चर्य की बात है कि बार बार वही बात दुहराई जाती है मानों पूँजीवाद के अतिरिक्त दूसरा कोई उपज का नियंत्रण हो ही नही सकता अथवा पूँजीवाद आवश्यक भी है। फिर यह भी कहां का न्याय है कि किसी एक वर्ग को काम करने को प्रोत्साहित करने के लिये, उसे दूसरों का उचित भाग दे दिया जावे। इस सिद्धान्त पर यदि प्रत्येक काम करनेवाला ऐसे ही अधिक भाग माँगे और उसके बिना काम ही न करें तो प्रत्येक भाग में अधिकता हो भी कैसे पावेगी। फिर यदि यही तर्क दूसरा वर्ग, पूँजीपतियों के सामने रक्खे, और उपज का अधिक भाग लिये बिना मजदूर काम ही न करें तो क्या पूँजीपति इसे स्वीकार करेंगे?

यही नहीं, अपना न्यायोचित भाग मांगने पर तो वे काम से पृथक कर दिये जाते है। अधिक भाग की तो बात ही क्या। उस समय इस वर्ग को काम के लिये प्रोत्साहन देने का सिद्धान्त नहीं रक्खा जाता वरन् उनके निर्धन अशिक्षित तथा असंगठित होने से लाभ उठाकर उन्हें जीवन निर्वाह के वेतन पर काम करने को विवश किया जाता है अन्यथा जीविका हरण, बेकारी तथा उससे होनेवाले असह्य कष्ट सहने की विवशता।

आवश्यक परिणाम

फिर यदि दूसरा वर्ग भी संगठित हो जावे, और इन सब बातों को सहकर भी अपनी उचित माँगों को प्राप्त किये बिना काम न करे, तब तो उपज ही रुक जावेगी। क्योंकि उपज के लिये साधनों का प्रयोग

और उसका प्रयोग करनेवाले मजदूर, दोनों ही आवश्यक हैं। केवल एक से तो काम चल ही नही सकता। अस्तु

इसके तो यही अर्थ होते हैं कि दूसरे वर्ग को भी संगठित होना ही पड़ेगा। अधिक भाग लेने के लिये न सही, तो स्वरक्षा के विचार से ही उन्हे ऐसा करना पड़ेगा। उनके संगठित हो जाने पर लगातार इन दोनों वर्गों मे संघर्ष रहेगा। क्योंकि दोनों की चेष्टा यही होगी कि उपज का भाग उसे ही अधिक मिले और दूसरे को कम। और फिर एक दूसरे को पराजित करने में दोनों का समय तथा शक्ति का दुर्व्यय होगा। उपज की उन्नति के स्थानमें उल्टे अवनति ही होगी। विशेष उद्योग धन्धों को परस्पर कलह और इस खींच तान में नष्ट हो जावेंगे क्योंकि उपज के दोनों आवश्यक वर्गों की शक्ति क्षीण से उपज मे धक्का लगना स्वाभाविक ही है।

अस्तु, पूँजीवाद का निश्चित परिणाम समाज को दो बड़े बड़े तथा परस्पर बिरोधी वर्गों मे विभाजित करना होता है जिन्हे विपरीत आधारों से आय मिलती हैं। उनके जीवन मे अधिक असमानता और परस्पर विरोध रहता है। संगठन की कथित उन्नति के साथ साथ यह विरोध भी बढ़ता जाता है। और सीधे संघर्ष का रूप धारण करता है। शक्ति के ह्रास के साथ २ उपज शक्ति भी क्षीण होती है। उद्योग धन्धे नष्ट हो जाते हैं। बेकारी बढ़ती है। आवश्यक पदार्थों के अभाव से जनता को कष्ट सहना पड़ता है। देश में स्थान २ पर चोरी, डाका तथा मार पीट होने लगती है।

अन्याय और अत्याचार से मुक्ति पाने के लिये संगठन आवश्यक ही होता हैं जो क्रान्ति करके समाज को इन क्लेशों से छुटकारा दें।

इसी से तो समाजवादी कहते है कि ऐसे पूँजीवाद का प्रारम्भ मे ही अन्त क्यों न कर दिया जावे ताकि भविष्य में यह सब क्लेश होने ही न पावे। वर्ग विभाग ही न हो और न उससे होनेवाले उपरोक्त यह दुष्परिणाम हो।

——:०:——

बटवारे का समाजवादी ढँग

——:o:——

आवश्यकता का आधार

——

पूँजीवादी उपज में गड़बड़ी का मुख्यकारण उसके बटवारे का ढंग है। इसी के द्वारा, समाज में सबसे अधिक अन्याय होता है। वर्गों के संघर्ष का भी यही कारण है। देखना यह है कि इसके स्थान पर समाजवादी ढंग क्या हो सकता है। समाजवादी ढंग में सूद, लगान अथवा लाभ तो देना ही नहीं होगा क्योंकि यह भाग तो उपज के साधनों के स्वामित्व के कारण दिये जाते है और समाजवाद में ऐसा वैयक्तिक स्वामित्व ही नहीं होता। समाजवादी ढंग पर की गई उपज का बटवारा पूंजीवादी ढंग पर नहीं हो सकता और इसी प्रकार पूँजीवादी उपज और समाजवादी बटवारा नहीं हो सकता। यह दोनों ढंग भिन्न २ है और इसी कारण किसी एक प्रकार की उपज के लिये उसी प्रकार का बटवारा भी आवश्यक होता है। और समाजवादी ढंग से प्राप्त उपज को समाज के पृथक पृथक व्यक्तियों में बाँटने के लिये कोई समाजवादी ढंग ही निकालना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति को क्या और कितना २ भाग मिले, यही प्रश्न इस सम्बन्ध में उठते हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है।

समान आय

निश्चित योजना के अनुसार प्राप्त उपज के लब्ध पदार्थों का

प्रत्येक व्यक्ति को सामान दे देना ही बटवारे का सबसे सरल ढंग हो सकता है। इस सिद्धान्त पर बटवारा करने मे विशेष सुविधा भी रहेगी। किसी देश की सम्पूर्ण उपजाऊ शक्तियों का प्रयोग होने पर, देश के प्रत्येक कुटुम्ब अथवा उसके सदस्य को समानता के आधार पर उपज का कितना भाग मिले, यह अनुमान लगाया जा सकता है। और उसी के अनुसार लब्ध पदार्थ बाटे जा सकते हैं।

बहुतों का ऐसा विचार होगा कि समाजवादी अथवा साम्यवादियों का प्रस्तावित ढंग यही है। वे उपज का बटवारा इसी सिद्धान्त पर करना चाहेंगे। परन्तु वास्तव मे ऐसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को समान आय पहुँचाना उनका अन्तिम अथवा तत्कालिक कोई भी ध्येय नही। इसके विपरीत साम्यवादी विचारधारा के जन्मदाता मार्क्स और एन्जिल ने बटवारे का दूसरा ही ढङ्ग बताया था। और लेनिन तथा स्टालिन ने सोवियट रूस मे इसी ढङ्ग का प्रयोग भी किया है।

लेखकों का मत

मार्क्स के सिद्धान्तों पर न चलने वाले और फिर भी अपने को समाजवादी कहने वालों जिनमे जार्ज बरनर्ड शा (George Bernard Shah) प्रमुख है, निश्चित योजना के आधार पर प्राप्त उपज के समान आय के सिद्धान्तों पर बाँटने का प्रस्ताव किया है। श्रीमान् शा ने तो समान आय के सिद्धान्त को अगले कार्य्य-क्रम का केन्द्र ही बनाया है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि आय की समानता ही समाजवाद है और वे लोग जो इस प्रकार आय की समानता नहीं चाहते, समाजवादी ही नही।

समाजवाद और साम्यवाद पथ प्रदर्शक नामक अपनी पुस्तक में अत्यन्त सारगर्भित शब्दो मे वे इस सिद्धान्त की दुहाई देते हैं। इनके कथनानुसार तो मार्क्स, एन्जल तथा लेनिन हो समाजवादी नही। यदि उनका यह कथन सत्य मान लिया जावे तो, श्रीमान शा

को यह सिद्ध करना चाहिये कि एन्जिल का यह कथन कि श्रेणी तथा वर्गों के अन्त के अतिरिक्त आय में समानता की माँग सर्वथा असंगत तथा व्यर्थ है समाजवादी संगठन के लिये अनुपयुक्त है। उन्हे यह भी बतलाना चाहिये कि आय को समानता के सिद्धान्त का प्रयोग न करके लेनिन और स्टालिन ने कैसे भूल की है ?

शा महोदय ने अपनी पुस्तक में कहीं इसकी चर्चा भी नहीं की कि आर्थिक समानता के विषय पर इससे पूर्व कभी विचार भी हुआ है। और प्राचीन विज्ञान नीतिज्ञों के सब विचारों और सद्भावो को भुलाकर जिनका इन समस्याओं से विशेष सम्बन्ध है, यों ही एकायक कह डाला है कि समाजवाद के अर्थ आय की समानता ही है समाजवादी नेताओं ने इस पर विशेप मनन किया है और इस सम्बन्ध मे बहुत स्पष्ट विस्तार पूर्वक वक्तव्य भी दिये है। उदाहरणार्थ सोवियट यूनियन के साम्यवादी दल की १७ वीं कांग्रेस में स्टालिन ने कहा है कि "मार्कसवाद का प्रारम्भ ही यह मान कर होता है कि मनुष्य की योग्यता तथा आवश्यकताएँ न समान है और न हो सकती है।" इसके अतिरिक्त अंग्रेजी समाजवादी विचारकों श्री मती तथा श्रीमान वेव ने इस सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किए है। उनके लिए तो यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वे मार्कस के सिद्धान्तों को रूस मे प्रस्तुत वातावरण के अनुसार करने के लिए उन्हें तोड़ मरोड़ अथवा घुमा फिरा कर करेंगे, वे तो मार्कस के अनुयायी भी नही हैं। और न रूस से उनका कोई विशेष सम्बन्ध ही है। वरन् गत वर्षों मे वे मार्कसवाद के एक बड़े विरोधी लेखक भी रहे हैं।

इस सम्बन्ध में उन्होंने यह कहा है कि यह समझना एक बड़ी भूल है कि सोवियट रूस मे साम्यवादी दल ने समाजवादी शासन की स्थापना इस आधार पर की कि सब मानसिक और शारीरिक काम करने वालों के समान आय ही मिले क्योंकि सब मनुष्य समान ही जन्म लेते है अतः ऐसे समाज में जिसमे इनका जन्म हुआ और जिसमे वे रहते है उन्हे पूरा अधिकार

है कि उत्पन्न हुए सब पदार्थों में समान ही भाग ले सकें।

समाजवादियों की कभी भी ऐसी विचार धारा नहीं रही। समानता के सिद्धान्त को वे सदैव तीव्र आलोचना ही करते रहे हैं।

बटवारे का ढंग

समाजवाद में प्राप्त पदार्थ फिर किस सिद्धान्त पर बांटे जावें। बटवारे के दो ढंग बतलाये गये हैं। (१) उपज काम करने वालों को उनके काम की संख्या व गुण के आधार पर बंटे। जिसका अर्थ यह है कि प्रचलित ढग का एक भाग ऐसा ही रक्खा जावे। यानी मजदूरों को तो वर्तमान ढंग पर ही वेतन मिले। वेतन के द्रव्य मे वृद्धि अवश्य हो जावे परन्तु दूसरे भाग का अन्त ही कर दिया जावे। स्वामित्व के लिये लगान, सूद अथवा लाभ का भाग दिया जाता है। समाजवाद मे ऐसा स्वामित्व जिसके द्वारा उपज के साधनों के स्वामियों को उनके ही नहीं रहेगा। बिना काम किये किसी को आय दी ही न जावे। संक्षेप मे, जीवन निर्वाह का केवल एक ही ढंग रक्खा जावे और वह काम करके ही हो। बिना काम के मिलने वाली आय का अन्त ही कर दिया जावे। ऐसी रीति मे मनुष्यों को केवल अपने काम के लिये ही पुरस्कार मिल सकेगा। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि काम के लिये अयोग्य, बूढ़े, रोगी, तथा शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों को भोजन ही न दिया जावेगा। इनके लिये आज का ही सा प्रबन्ध रहेगा। वे किसी काम करने वाले पर ही आश्रित रहेंगे। समाज मे ऐसे मनुष्यों की भी एक काफ़ी सख्या रहती है जो उपज का कोई काम कर ही नही सकते। समाजवाद मे उनके लिये दूसरा ही प्रबन्ध होता है। बुढ़ापे को पैन्शन, अयोग्यता अथवा दुर्घटनाओं के लिये बीमा, उच्चश्रेणी की शिक्षा के लिए वजीफ़े इत्यादि इसके कुछ उदाहरणमात्र हैं। समाजवाद मे इनका विशेष प्रबन्ध रहता है बरन् पूँजीवाद से कही अधिक ही होता है। परन्तु इस प्रकार धन देने से भी समाजवाद के मूल सिद्धान्त में

कोई अन्तर नहीं पड़ता कि उसमें केवल काम के लिए ही आय दी जाती है। बुढ़ापे को पैन्शन, दुर्घटनाओं का बीमा अथवा दुर्घटनाओं के कारण हानि की क्षति पूर्ति इत्यादि का तो कार्य्य से सम्बन्ध है ही। विद्यार्थियो को वजीफ़े के रूप में दिया जानेवाला धन भी उन्हें भविष्य में अधिक काम करने योग्य बनाने के सिद्धान्त पर रहता है। कुछ न कुछ ऐसे संरक्षण तो रहना ही चाहिए।

अस्तु, यह देन लेन भी उसी ही सिद्धान्त पर है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने काम के लिए ही पुरस्कार मिले तथा किसी का भी जीवन निर्वाह दूसरों के परिश्रम पर न रहे। इसी सिद्धान्त पर समाजवादी संगठन में शासन के उद्योगों में वैतनिक मज़दूरों, तथा सहयोगी समितियों में सदस्यों को उनके काम के लिये क्रय शक्ति अथवा पदार्थों और सेवाओं का बटवारा होता है। दोनों के लिये एक ही सिद्धान्त रहता है। सहयोगी समितियों में उपज के साधन उन्हीं के होते हुए भी, उनके स्वामित्व के लिये कोई धन नहीं दिया जाता है। सदस्य स्वयं उन साधनों पर काम करते है और उनके काम के लिये उन्हे भी धन देने की व्यवस्था है।

परिवर्तन का परिणाम

उपज के ढंग में परिवर्तन होने से ही उसके बंटवारे में भी परिवर्तन करना पड़ा है परन्तु इस परिवर्तन के सामाजिक तथा आर्थिक परिणाम अधिक महत्वपूर्ण रहे है। आर्थिक परिणामों में सबसे प्रथम ध्यान में रखने वाली बात तो यह है कि इस ढंग से समाज की उपजाऊ शक्तियों का प्रयोग आवश्यक पदार्थ अथवा सेवाओं के उत्पन्न करने में ही होगा। अथवा एक निश्चित अनुपात में उपज के साधनों के बनाने में, यह अनुपात निस्संदेह समाज के आदेशों पर योजना बनाने वालों के निश्चयानुसार ही होगा। आवश्यक पदार्थों की पूरी २ माँग न हो सके, इसकी तो कोई भय है नही। क्योंकि आय की अधिक असमानता का तो प्रश्न ही नही

रहता। आप की असमानता तथा काम के विना धन मिल जाने के कारण ही तो पूँजीवाद मे देश की उपजाऊ शक्तियो का पूरा प्रयोग जन साधारण के लिये आवश्यक पदार्थों के बनाने मे नही लग पाता है वरन वहुत सा धन मुट्ठी भर धनी आदमियों के पास संचित हो जाता है जिसका व्यय ही नहीं हो पाता है। समाज-वादी संगठन मे भले ही मनुष्यों की आय में अपने २ काम के अनुसार थोड़ी वहुत असमानता रहे और कुछ मनुष्य दूसरों से अधिक पदार्थव सेवाये ले सके। परन्तु इतनी असमानता नही रह सकती कि उसमे कोई कार्यकर्ता अपनी आय का व्यय न कर सके। और पदार्थ व्यर्थ ही पड़े रहें।

वटवारे के इस ढङ्ग से समाज को इस वात से तो छुटकारा मिल ही जाता है कि एक ओर वहुतेरे पदार्थों की अधिकता हो और वे व्यर्थ पड़े रहे तथा दूसरी ओर सहस्त्रों मनुष्य वेकार रहे और उन्हे काम करने ही को कुछ न हो। काम के आधार पर मनुष्यों के आय के वट जाने पर ऐसे काम द्वारा उत्पन्न पदार्थों की पूरी पूरी विक्री हो जाना कभी भी असम्भव नही हो सकती वरन् यह तो स्वाभाविक ही है। और साधारणतया सव आय इस प्रकार वट भी जाती है। केवल उस भाग के जो जान वूझकर भविष्य मे उपज के साधनों की उन्नति के लिए सुरक्षित रक्खा जाता है। ऐसे ही मनुष्य अथवा मशीने भी वेकार नही पड़ी रह सकती हैं। इस ढङ्ग मे चाहे अन्य कितनी ही वुराइयाँ अथवा कठिनाइयां क्यों न हो, एक सव से वड़ा लाभ यह है कि इसके द्वारा जनता की माँग और वेकारी दूर हो जाती है और उसके स्थान पर उपज मे अधिकता तथा निश्चित हो जाती है ढङ्ग के अन्य लाभ इस एक वड़े लाभ के सामने से पीछे पड़ जाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य अथवा कुटुम्व की आय अथवा रहन सहन विल्कुल समान रहे यह तो सम्भव नही और न संगठन से ऐसा कोई अभिप्राय ही है। कुटुम्वों की आय मे असमानता तो रहेगी ही।

क्योंकि एक तो भाँति २ के कामों के लिए भिन्न २ वेतन होंगे दूसरे कुटुम्बों में काम करनेवालों को संख्या से भी इस पर प्रभाव पड़ेगा। जिससे यह नहीं कहा जा सकता कि सब को रहन सहन एक ही सी होगी। दो या तीन कार्य्य कर्ताओं वाले कुटुम्ब को आय अवश्य ही उस कुटुम्ब से कहीं अधिक होगी जिसमें केवल एक ही काम करनेवाला है और अन्य सब उसके आश्रित। परन्तु इस असमानता की सीमा पर ध्यान करना और उसकी तुलना पूँजीवादी देशों में प्रचलित असमानता से करने में दोनों के अन्तर का पूरा पूरा ज्ञान होता है। ब्रिटेन और अमेरिका ऐसे उन्नतिशाली देशों में जहाँ इस समय भी नीच से नीच श्रेणी के कुटुम्ब को भी, अच्छा स्वास्थ्य तथा निश्चित जीवन व्यतीत करने भर के पदार्थ मिल जाते है। उन्हें समाजवादी ढंग में भी इस प्रकार की सुविधा तो रहेगी ही। इसमें वृद्धि ही हो सकती है असमानता सम्भवतः उसके ऊपर ही रहेगी। परन्तु ऐसी असमानता जिसमें सब के लिए एक कम से कम आधार (Standard minimum Standard) सुरक्षित रहता है, उस पूँजीवादी असमानता से कहीं भिन्न होगी जिसमें बहुत से अनाथ और भीख माँगने वाले हो जाते है और कुछ ही विशेष धनी और आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले, रहते हैं।

इसके अतिरिक्त काम करने वालों में परस्पर असमानता तथा बिना काम करने वाले और काम करने वालों की असमानता में भी बड़ा अन्तर है। दूसरे काम करने वालों में असमानता कहीं कम रहती है। रूस के अनुभव से कहा जा सकता है कि रूस मे ऐसी असमानता १ और १५ के अनुपात से है परन्तु अनुमान लगाया गया है कि पूँजीवादी देश अमेरिका और ब्रिटेन में अशिक्षित मजदूर तथा अति धनी पूँजीपति में १ और ४०,००० का अनुपात बैठता है।

धन-संचय

असमानता की कमी का सामाजिक तथा आर्थिक महत्व भी है

क्योंकि कम से कम आय से १५ गुनी अधिक आय भी सरलता से आवश्यक पदार्थों और सेवाओ मे व्यय की जा सकती है। परन्तु ४०,००० गुनी आय इस प्रकार व्यय नहीं की जा सकती और स्वभावतः संचित भी न रहेगी। स्वाभाविक ही जिसके अर्थ यह होते हैं कि उसके द्वारा अन्य उपज के साधनों पर स्वामित्व प्राप्त किया जावेगा। और उससे लाभ की व्यवस्था होगी जो असमानता को और अधिक बढ़वेगी।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या व्यक्तिगत धन संचय समाजवाद मे हो सकता है, निस्संदेह यह सम्भव नही। वैयक्तिक धन संचय के अर्थ उपज के साधनों का व्यक्ति विशेष द्वारा लगातार मोल लेना ही है फिर धन सचय रःका कैसे जाता है ? आय की असमानता मे कमी होने और उपज के साधनों के स्वामित्व से लाभ न मिलने से व्यक्तिगत धन संचय अनावश्यक ही हो जाता है। व्यक्ति विशेष के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह अपनी आय को आवश्यक पदार्थों और सेवाओं मे व्यय कर दे। परन्तु यह कहा जा सकता है कि अधिक शिक्षित और उसी के अनुसार अधिक वैतनिक अपनी आय का कुछ भाग बचा सकते है। और उससे उपज के साधन मोल ले सकते हैं। परन्तु वास्तव मे यह भी सम्भव नहीं। समाजवादी संगठन मे उपज के साधन बेचे ही नही जाते। किसी कारखाने के शेयर अथवा स्टाक जिससे उस पर स्वामित्व मिल सके, बिकते ही नहीं।

सोवियट रूस मे किसी व्यक्ति के लिए भी यह सम्भव नहीं कि वह किसी कारखाने अथवा रेल का कोई शेयर अथवा स्टाक मोल ले सके। चाहे जितना भी धन उसके पास संचित हो। स्पष्ट शब्दों मे, निश्चित योजना के आधार पर होने वाली उपज अथवा समाजवादी शासन मे उपज के साधनों के किसी भाग का भी व्यक्तियों के निजी स्वामित्व मे जाने की प्रायः कानूनन मनादी रहती है।

कुछ थोड़े से औजारों को छोड़ कर जिनसे किसान व स्वतन्त्र

कारीगर काम करते हैं। सहयोगी समितियों के अधिकार में रहने वाले साधन भी व्यक्तियों के हाथ में नहीं कहे जा सकते। वे किसी की निजी सम्पत्ति है नहीं लेते। उन पर भी समाज को ही अधिकार रहता है। परन्तु ऐसे उन साधनों तक संगठन के कारण पहुँच नहीं हो पाती।

वैयक्तिक पूँजी

अस्तु, इस प्रकार समाजवाद में वैयक्तिक पूँजी की सम्भावना ही नहीं रहती। मनुष्य अधिक आय निस्संदेह संचय कर सकते है। परन्तु ऐसा करने पर वे उसका कोई प्रयोग नहीं कर सकते। केवल उसे संचित ही रख सकते है। और वह भी सम्भवतः सिक्के के रूप में ही आज कल सोवियट प्रजा तन्त्र रूस मे इस प्रश्न के धन से शासन पत्र मोल (Governn.ent Bonds) लिये जाते है, जिन पर थोड़ा ही सूद मिलता है। और वह थोड़े ही समय के लिये रहता है। यह भी प्रायः प्रारम्भिक समय के आथिक संकट से ही चला है और सम्भवतः शीघ्र बन्द भी हो जावेगा। देश के उद्योगों के लिये प्रयाप्त धन मिल सकने और मनुष्यो को भविष्य के लिये प्रबन्ध की चिन्ता न रहने पर यह सूद की प्रथा का ही अन्त हो जावेगा। समाज सेवा की भावना बढ़ने और समाज में पदार्थों की अधिकता हो जाने से, ऐसी चिन्ता रहेगी ही नहीं। और न फिर धन से संचय ही होगा। इसमे थोड़ा समय अवश्य लग जावेगा और उस समय तक निर देह इस प्रकार शासन को (Governments B onds) में रुपया लगाया जायगा। परन्तु यह सदा रहने वाली बात नहीं है। और न किसी समाजवादी शासन मे बहुत समय तक रह ही सकती है। जब समाज मे मनुष्यो को बुढ़ापे, दुर्घटनाओं इत्यादिक के लिए संरक्षणों की आवश्यकता ही न रहेगी,, वे स्वयं ही ऐसे व्यर्थ धन संचय से उकता जावेंगे।

अन्य परिभाषा

इस आधार पर समाजवाद को एक दूसरी परिभाषा भी की

जा सकती है। कि समाजवाद वह संगठन है जिसमे केवल प्रयोग के पदार्थ ही व्यक्तियों के हाथ मे रहते हैं, उपज के साधन नही। इस परिभाषा से समाजवाद मे वैयक्तिक सम्पति के सम्बन्ध का भ्रम दूर हो जाता है।

समाजवादी संगठन की अत्यावश्यक तथा प्रारम्भिक शर्त यह है कि उपज के साधनों मे वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त हो। परन्तु इससे यह अभिप्राय नही कि प्रयोग के पदार्थों मे भी वैयक्तिक सम्पत्ति का रहना अनावश्यक तथा अवान्छनीय है। इसके विपरीत समाजवाद ऐसी निजी सम्पत्ति तो बढ़ाना ही चाहती है। ताकि जनसाधारण के पास प्रयोग के पदार्थ अधिक से अधिक संख्या मे रहे। यह तो पूँजीवाद का ही कलंक है कि उसमे ७० प्रति शत मनुष्य, इस निजी सम्पत्ति से भी रहित रहते हैं और उनके पास (आवश्यक पदार्थ), प्रयोग करने भर को भी नही रहते।

यह भी कह सकते हैं कि समाजवादी संगठन का उद्देश्य समाज मे प्रयोग के पदार्थों की अधिकता करना है ताकि वे इन पदार्थों का पूरा पूरा भोग कर सकें। उनके पास भोजन वस्त्र, निवास स्थान बाग, बगीचे, मोटर तथा भाँति भाँति के अन्य प्रयोग के पदार्थ अधिक से अधिक सख्या मे रहे। उन्हे कभी भी इन पदार्थों की कमी न होने पावे।

पूँजीवादियों के कार्य्य

पूँजीवादी समर्थकों के द्वारा समाजवाद के विषय मे इतना भ्रम फैला दिया गया है कि लोग पदार्थों की इस प्रकार अधिकता को समाजवाद के सिद्धान्त से हटना तक कहने लगे है।

सोवियट रूस मे देशवासियों के पास इन प्रयोग के पदार्थों की अधिकता देखकर वे उसे समाजवाद के सिद्धान्त से हटा हुआ कहते है। पर वास्तव मे सिद्धान्त से हटना तो तभी

होगा जब इन पदार्थों के स्थान मे ऐसे पदार्थों के बनाने के साधन व्यक्ति विशेष के हाथ में आ जावें। और इन पर व्यक्तियों का आधिपत्य अथवा स्वामित्व हो जावे। परन्तु ऐसी कोई बात तो है हो नहीं। केवल देशवासियों के पास अधिक संख्या मे ऐसे पदार्थों का होना समाजवाद से हट जाना नहीं कहा जा सकता। समाजवादी आर्थिक संगठन का तो यह पहला काम है कि आवश्यक तथा प्रयोग के पदार्थों की अधिकता हो। संगठन पूर्ण हो हो नही सकता जब तक कि देशवासियो के पास उनको आवश्यकता के पदार्थ पर्याप्त सख्या मे न हो जावें।

अस्तु, समाजवाद मे, आय का बटवारा समानता के आधार पर न होकर प्रत्येक मनुष्य के काम को संख्या और गुण के आधार पर होता है। मनुष्यों को आय में असमानता रहती है परन्तु बहुत अधिक असमानता नही रहने पाती। काम के विना केवल साधनो के स्वामित्व के कारण आय मिलना समाप्त हो जाता है। वैयक्तिक धन संचय का अधिकार तो रहता है परन्तु इस धन से वे प्रयोग के पदार्थ हो ले सकते है, उपज के साधन नहीं। वे तो बेचे हो नही जाते। बेकारी दूर हो जाती है। और पदार्थ अधिक संख्या मे निश्चित रूप से रहते है। मनुष्यों के पास आवश्यक पदार्थों को कमी नहीं रहती वरन् उनको अधिकता होती है। समाज के रहन सहनमे बृद्धि होती है। देश की उपजाऊ शक्तियों का पूरा २ प्रयोग होता है और उनसे उत्पन्न पदार्थों का पूरा भाग किया जाता है। वे व्यर्थ नहीं पड़े रहते। और न कल कारखाने को मशीनें ही बेकार रहती है। सब के काम करने का अवसर मिलता है। और सब अपनी शक्ति भर काम करके अपनी योग्यतानुसार वेतन पाते हैं। और उस से सुखी जीवन बिताते है इससे अधिक और चाहिये भी क्या—

वर्गों का अंत

समान अवसर

पिछले परिच्छेद मे बतलाया जा चुका है कि पूँजीवादी व्यवस्था मे समाज दो भिन्न २ वर्गों मे विभाजित हो जाता है। यह भिन्नता उनकी आय के परस्पर विरोधी आधारों पर ही आश्रित रहती है। उपज का जितना अधिक भाग पूँजीपतियों को मिलेगा, उतना ही कम मजदूरों के लिये बचेगा। और इसी प्रकार इसके विपरीत मजदूरों को अधिक भाग मिलने पर पूँजीपतियों के लिये उतना ही कम रहेगा। इन परस्पर विरोधी हितों के आधार पर ही वर्तमान पूँजीवादी समाज को घातक नीव पड़ी है। और इसी पर संगठन का ढाँचा बना है।

वर्गों का अन्त हो जाने से समाज को एक बड़े संकट से छुटकारा मिल जावेगा। इससे लाभ तो स्पष्ट ही है। और इसी कारण इस सम्बन्ध मे अधिक कहने की आवश्यकता नही।

ऐसे समाज मे सब मनुष्यों को एक ही आधार पर जीवन निर्वाह के लिये आय मिलेगी। और इस प्रकार सबके हित स्वाभावतः एक से ही होगे। ऐसे वातावरण मे प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति का समान अवसर प्राप्त होगा पूँजीवादी व्यवस्था मे

जहाँ थोड़े से मनुष्य उपज के साधनों के स्वामित्व से धन प्राप्त करते हैं, ऐसे वर्ग के रहते हुए समान अवसरों का मिलना, कई कारणों से प्रायः असम्भव सा हो है। परन्तु वर्गों का अन्त हो जाने पर सम्मिलित समाज में ऐसे अवसर सभी को मिलते हैं।

यह वर्गों का अन्त समाजवादी संगठन में ही हो सकता है। जहाँ केवल काम के लिए ही आय मिलती है। स्वामित्व अथवा अन्य किसी कारण वश किसी को भी आय नही दी जाती। और तभी इन वर्गों का अन्त हो पाता है।

समाजवादी संगठन के विरोधियों का ऐसा कहना है कि काम ही के लिये आय मिलने पर भी, अच्छे वेतन वाले मजदूरों को अथवा उनके पुत्रों को, अधिक सुविधा मिलेगी, परन्तु संगठन में ऐसी सुविधाओं का प्रभाव जन सेवा, सरकारी शिक्षा, निर्वाह भत्ता इत्यादि के प्रबन्ध से कम कर दिया जाता है। सामाजिक असमानता रहने पर भी, अन्य प्रकार की विशेष सुविधाये जो पूँजीवाद में प्रायः छिपी रहती है, इस सगठन मे रहने नहीं पाती। अथवा अन्य किन्ही उपायों से उनका प्रभाव कम किया जाता है।

मानसिक शक्ति का विकास

वर्गों के अन्त से एक लाभ यह ही होता है कि ऐसे वर्ग रहित सम्मिलित समाज में मानसिक शक्ति का विकास विशेष कर होता है। संगठन के कार्य मे अनुभवी व्यक्तियों और शिक्षा प्राप्त विशेषज्ञों की आवश्यकता तो रहती ही है। वरन उनकी माँग बढ़ ही जाती है। समाज के नेता प्रायः मौरूसी पूँजीपति वर्ग ही से होते ही है। और वास्तव मे उन्ही मे से हो भी सकते हैं क्योंकि इन्हे ही ऐसे काम के अवसर मिलते हैं। मजदूर अथवा अन्य कार्य्य करने वाले तो अपने जीवन निर्वाह के चक्कर मे ही दिन रात चिन्तित रहते हैं। सूझ बूझ की बात निकाल सकने का तो उन्हे अवसर ही नही मिल

पाता। मध्यम श्रेणी से अवश्य कुछ जन सेवक तथा परोपकारी व्यक्ति निकलते है। जो न्याय, धर्म, अथवा साधारण हित के विचार से मजदूरों का पक्ष लेते हैं और उन्हें पूँजीपतियों की धन लोलुपता से बचने में सहायता देते है।

इसके विपरीत वर्ग रहित समाज में, हितों के परस्पर मेल से ऐसे जन सेवक केवल एक वर्ग, ही सीमित न रहकर सम्पूर्ण समाज से ही निकलते है। दासता और निस्सहायता का वातावरण दूर हो जाने पर, वैसे ही मनुष्यों की विचार-शक्ति मे वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न प्रकृतियों के मनुष्य अपने अपने विषयों, विज्ञान, कला, शिक्षा, शासन इत्यादि में, अग्रसर होने का पूरा अवसर मिलता है। पेट की चिन्ता और जीविका की अनिश्चित्ता के कारण पूँजीवाद मे वे इस ओर ध्यान देना तो दूर की बात है विचार तक भी नहीं कर पाते हैं। विचारशील मनुष्य अवसर न मिल सकने के कारण छिपे ही पड़े रहते है और उनकी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियो का लाभ ही नहीं मिल पाता। इस प्रकार देश की यह शक्तियाँ व्यर्थ ही पड़ी रहती है। समान अवसर की व्यवस्था तथा स्वतन्त्र वातावरण के कारण ऐसी शक्तियों का पूरा पूरा प्रयोग भी देश को मिल सकेगा।

सामाजिक शान्ति

इसके अतिरिक्त सामाजिक शान्ति के लिये भी ऐसी श्रेणी संघर्ष का अन्त परमावश्यक ही है। क्योंकि जब तक समाज में ऐसी असमानता रहेगी कि कुछ व्यक्ति तो अपने स्वामित्व के कारण अधिक लाभ उठावे और दूसरे, कल कारखानो मे काम करके अधिक परिश्रम के उपरान्त भी जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक धन न प्राप्त कर सके, सामाजिक शान्ति होना असम्भव ही है। मनुष्य समाज का इतिहास इसका पूर्णतया साक्षी है। समान अधिकार न रहने से शासक और शासितों में सदैव ही कुछ न कुछ झगड़ा चलता

रहता है। स्वेच्छा से कभी भी इस प्रकार परस्पर मेल नही रक्खा जा सका है। धन अथवा बल से व्यक्ति दबाए अवश्य जा सकते हैं परन्तु उनमें स्वाभाविक मैत्री के भाव उत्पन्न नहीं किये जा सकते हैं। अवसर मिलने पर स्वाभाविक ही उनकी इच्छा प्रतिकार की होगी। वास्तविक शान्ति तो समान अवसर अथवा समाजवादी संगठन तथा वातावरण में ही रह सकेगी।

अयोग्यता का ढोंग

यही नहीं आश्चर्य तो यह है कि मज़दूरों की कमज़ोरी और निर्धनता का बुरा लाभ उठाया जाता है। निर्धनता के कारण वे अच्छा भोजन नहीं कर सकते। बड़े तथा स्वच्छ घरों में रह नहीं सकते। स्वच्छ वस्त्र नहीं पहन सकते और न रुग्णावस्था में उनकी औषधि इत्यादि का ही समुचित प्रबन्ध रहता है। प्रायः इसी कारण वे अस्वस्थ भी रहते हैं। परन्तु इस निर्धनता और अस्वस्थता को दूर करने, अथवा उनकी स्थिति सुधारने के स्थान पर कहा जाता है कि मज़दूर तो पूँजीपतियों से कम बुद्धि और योग्यता वाले होते हैं। उन्हे नीच श्रेणी का वतलाये जाता है। इससे वड़ा अंधेर और हो ही क्या सकता है।

एक ओर तो मजदूरों को विकास का अवसर न मिले। उन्हे आवश्यक सामग्रियाँ तक प्राप्त न हो सकें। और वे बेचारे इस परिस्थिति मे किसी प्रकार अपना जीवन निर्वाह करें। इसके विपरीत यह कहा जावे कि उनमें योग्यता कम होती है, आज, वे पूँजीपतियों की भाँति स्वतन्त्र रह ही नहीं सकते हैं। मजदूरों को भी पूँजीपतियों की ही भाँति अधिक वेतन और लाभ मिले। उन्हे भी, अधिक नही, तो समान अवसर प्राप्त हो, तव इस वात की तुलना हो सकती है कि इनमें कौन नीच अथवा उच्च श्रेणी का है। वर्तमान तुलना के आधार पर इस प्रकार का तर्क किसी प्रकार भी न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

मनुष्य समाज की उन्नति, उसके विकास अथवा पतन में समाजवादी अथवा साम्यवादी नीति का बड़ा महत्व रहा है। इस प्रकार समाज के श्रेणियों मे विभाजित रहने से ही इसका महत्व स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक सभ्यता की उन्नति समाज मे विभाजन से ही हुई है और अन्त मे उसका रूप शासक व शासित का ही रह गया है। सभ्यता के विकास के इतिहास से यह पूर्णतया सिद्ध होता है कि समाज में कोई विशेष विभाग नहीं है। फिर ज्यों ज्यों उनमे से श्रेणी विभाग होने गये, नई नई सभ्यताएँ उतनी ही बढ़ती गईं। इनका विकास भांति भांति से भिन्न भिन्न धाराओं मे हुआ। परन्तु अन्त में सदैव ही दो श्रेणी रह गई हैं। एक शासक द्वितीय शासित। शासक द्वारा शासित पर अपने विचार सदैव ही लादे जाते हैं कभी भी अपनी स्वेच्छा से उन्हों ने सम्भवतः उन्हे स्वीकार नही किया है क्योंकि अधिकतर सभ्यताओ मे शासकों ने विशेष अधिकार अपने लिये ही सुरक्षित रक्खे हैं। और शासन का बोझ शासित पर बांटने ही की चेष्टा की है। और ऐसी सभ्यता को मनुष्य समाज की उन्नति में एक पग आगे कहा जाता है। यदि ऐसा हो भी तो भी इस कथित अग्रता का बड़ा मूल्य है, क्योंकि ऐसी सभ्यता में शासक ही शासित पर दबाव डालते हैं और उत्तर में शासितों की ओर से उनका लगातार विरोध रहता है। शासित उनके आदेशों को स्वेच्छा से स्वीकार कर लेते हों अथवा सुख से इतनी कठिनाइयों को झेलते हों, ऐसी बात नही है क्योंकि उसमें इन्हे लाभ तो कम ही होता है। इस प्रकार इस समय तक सभ्यता अल्प संख्यक शासकों द्वारा ही जन साधारण पर लादी गई है और वह ही उसके लाभ का अधिकतर भोग करते हैं। आज से पूर्व कभी श्रेणी रहित समाज स्थापित हुआ ही नहीं। वास्तव में जब तक समाज में ऐसी श्रेणियों का अन्त नहीं होता, स्वेच्छा की सभ्यता स्थापित ही नही हो सकती क्योंकि श्रेणी रहित समाज मे ही प्रत्येक को समान अवसर मिलते हैं और उसे ही सब अपनी इच्छासे स्वीकार भी करेंगे।

पूँजीवादी सभ्यता के अवगुण और उसकी कमी के प्राप्त अनुभवों से अधिकतर लोगों को इस प्रकार श्रेणी रहित समाज की

आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। बहुतों का तो यहाँ तक कहना है कि पूँजीवादी सभ्यता प्राचीन असमानता से भी अधिक अच्छी नहीं।

श्रेणी रहित समाज की इस समय केवल आवश्यकता ही नहीं वरन् सम्भावना भी है। उपज इतनी है कि शासक के दिन प्रति दिन बढ़ते हुए कर्मचारियों, विज्ञाताओं, कलाकारों तथा प्रणाली के अन्य आवश्यक व्ययों को उठाने के उपरान्त भी, जनता को स्वतंत्र और अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिये काफ़ी धन बच सकता है। दूसरे शब्दों मे ऐसे समाज की स्थापना हो सकती है जिससे सम्पूर्ण जनता को ही लाभ पहुँचा सके। वर्तमान श्रेणी समाज सबसे अधिक अस्थिर और अनिश्चित रहा है। इस संगठन के अन्तिम स्वरूप मे शासकों को प्रायः सभी कार्य्यों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष यह कुछ न कुछ मात्रा मे अवश्य रहती है कि कहीं पर भी उनके शासक रहने में कोई कमी न होने पावे। वास्तव मे उनका प्रत्येक कार्य्य इसी भावना को बढ़ानेवाला ही होता है। और यदि कहीं उनके कार्य्यों से उनके (शासकों) अधिकारों अथवा सुविधाओं में कोई कमी होती प्रतीत होती है। तो तुरन्त उनमे परिवर्तन हो जाता है। और एक समय ऐसा भी आता है जब कि ऐसे समाज में कोई कार्य्य ही नहीं किया जा सकता है, ऐसी चेष्टा भी नहीं हो सकती जिससे संगठन की स्थिरता को धक्का लगे। संगठन की नीव को हानि पहुँचाने वाले विचार ही असम्भव कर दिये जाते है। उनके अनुसार कार्य होना तो दूर की बातहै। शासक वर्ग सर्वव्यापी उपायों से जिन्हे वे स्वयं ही समझ सकते हैं, केवल शासितों को ही नहीं दबाते, वरन् किसी स्वतंत्र विचार तथा कार्य्य शील मनुष्य को चाहे वह अपने ही दल का क्यों न हो स्वतंत्रता पूर्वक कार्य्य करने में वाधक होते है। उनको भय रहता है कि कहीं यह कार्य शीलता, उनकी सुस्त तथा अकर्मण्य स्थिति को संकट में न डाल दें क्योंकि वे स्वयं तो कुछ काम करते ही नही। और न करना ही चाहते है। इसी लिये उनकी यह चेष्टा रहती है कि

दूसरे भी कुछ काम न कर सकें। और न उन्नति की ओर विचार ही करें। उन्नति शाली और कार्य्य शील होने पर वे कही उनका ही स्थान न ले लें, किसी समाज के लिये यह नाश के लक्षण हैं। ऐसे समय मे कलाकारों को देखने, कवियों को सुनने तथा विज्ञान-दाताओ की जाँच करने इत्यादि की ही मनादी हो जाती है। कही उनके आविष्कारों से समाज की वर्तमान स्थिति मे गड़वड़ी न आ जावे। अतः इस प्रकार के सब कार्य्य ही वे वन्द करा देते हैं। जिससे समाज की उन्नति ही नही हो पाती। यही नही; इसका परिणाम यह भी होता हैं कि धीरे धीरे यह कलाकर, विज्ञता इत्यादि भी वातावरण वास्तविकता तथा स्थिति का पूरा २ ज्ञान ही नही कर पाते।

श्रेणी वर्ग का प्रभाव उन पर इतना पड़ता है कि वे उसी धारा में विचार करने के अतिरिक्त स्वतंत्र विचार ही नही कर सकते अतिरिक्त और न कोई ऐसा कार्य्य ही हो पाता है। यह भी नही कि शासकों द्वारा सदा ही उन्हे ऐसा करने की मनादी होती है परन्तु धीरे धीरे वे स्वयं भी उसी वर्ग के होते जाते हैं, और ऐसे ही कार्य्य करते है, जिससे उनका वर्ग ही आधिपत्य मे रहे। परन्तु ऐसी स्थिति वर्ग के अन्तिम समय मे ही होती है, जब कि उनका कार्य्य समाप्त पर होता है अथवा उनका अन्त निकट आ जाता है। प्रारम्भ मे जब देश के उद्योग धन्धों की उन्नति के लिये पूँजीवादी व्यवस्था प्रायः अधिकतर अनिवार्य्य सी होती है, ऐसी विचार धारा उन मे नही रहती। उस समय तो वे सब बातों का स्वयं भी विचार करते हैं और ऐसे विचारो की स्वतंत्रता दूसरों को भी देते हैं। शासित को दबाने की तब आवश्यकता नही होती और न ऐसे उपायों का ही प्रयोग होता है जिनके कारण पूँजीवादी समाज आज प्रायः एक बड़े कारागार की ही भाँति हो गया है। मजदूरों का भी उस समय तक यही विचार रहता है। कि पूँजीपति संसार के उद्योग धन्धों की उन्नति मे इतना कार्य्य कर रहे हैं और यही समाज के वास्तविक तथा सच्चे नेता हैं

परन्तु उन्नति कर लेने पर उस उन्नति शील स्थिति को स्थिर रखने तथा अन्य क्रियाशील और अपने से उत्साही मनुष्यो से अपनी रक्षा के लिये वे ऐसे कार्य्य कराने लगते है। जिनका परिणाम अन्त मे उनका विनाश ही होता है। क्योंकि वे न तो स्वयं उन्नति का मार्ग सोचते अथवा ढोंग निकालते है, और न दूसरों को ही ऐसा करने देते है। धन विलासिता, भोग ऐसी ही अन्य बातो मे पड़ जाते हैं जिस के फल स्वरूप उन्नति बन्द हो जाती है। अवनति होना प्रारम्भ होता है और धीरे २ ऐसे लोग बिल्कुल ही मिट जाते है। कितने ही शासको की यही गति हुई है। मान तथा अधिक धन मिल जाने पर उनमे अवगुण आ जाते है जिनका आवश्यक परिणाम विनाश ही होता है। सदियो से ऐसा ही चला आता है।

इस समय स्थित ऐसी ही है। ऐसे शासक वर्ग की आवश्यक्ता ही नहीं रही है। आज का शासक वर्ग समाज की उन्नति का कोई कार्य नही करता वरन् उनसे उन्नति के मार्ग मे बाधाएं अथवा रोड़ पड़ते है। चाहे वह आथिक अथवा वैज्ञानिक किसी भी क्षेत्र में क्यो न हों। धनी अधिकतर सुस्त और काहिल हो गये है। वे विलासी, भोगी और कुकर्मी है तथा समाज पर एक बोझ की भाँति ही रहना चाहते है। उन का स्पर्श मात्र ही पदार्थ को बुरा और दुर्गन्धी बना देता है। उनका मूल्य घट जाता है। उनके कार्य व्यर्थ उन का जीवन निस्सार, तथा नाशप्राय होता है। यह दशा तो ऐसे धनाढ्यों की है जो काम नही करते परन्तु इन के अतिरिक्त ऐसे भी धनी है जो कुछ न कुछ कार्य करते है। वह तो समाज के लिये विशेष हानि कारक है क्यो कि अपने आथिक संगठन से वे ऐसा गुट बनाते हैं तथा जीवन के लिये आवश्यक पदार्थों मे उन की ऐसा नीति रहती है जिस से संसार का आथिक जीवन ही बिगड़ जाता है। इन बातो मे पासा खेलने की भांति ही उनके कार्य्य रहते है। समाज इनके लिये पासे की गुट्टी ही होती है जिसे वे जिस प्रकार चाहे अपने दांव पर लगा दे और जहां चाहे फेक दे। जीवन का मूल्य ही उनके सम्मुख कुछ नही। उन्हे केवल लाभ होना चाहिये। पूँजी अपने

देश के धन्धे से हटाकर अन्य देशों को भेज दी जाती है। अथवा फिर उसका प्रयोग अपने देश में किया जाता है। जिससे भी उन्हे अधिक लाभ हो। किसी आवश्यक पदार्थ की संख्या मे कमी करके अधिक लाभ उठाने की नियत से वे पूँजी का प्रयोग अन्य पदार्थों मे भी लगा देते है। राजनैतिक संकटों से बचाने के लिये अपनी पूँजी अन्य देशो मे भेजने की नीति निर्धारित करते हैं। देश की भलाई हो अथवा बुराई इससे उन्हें क्या प्रयोजन। उनका स्वार्थ पूरा होना चाहिये। अन्य देशवासी जिसमें अधिकतर वे होते हैं जिनकी सहायता और परिश्रम से ही यह पूँजी बनती है, चाहे भिन्न भिन्न प्रकार के कष्ट झेलें और मर ही क्यों न जायें, उन पर इसका प्रभाव ही नही होता। धन लोलुपता से वे प्रायः अन्धे ही हो जाते है। देश विदेश से उचित अनुचित समझौता करते हैं। व्यापारियों मे हार जीत होती है। पदार्थ अन्य देशों मे भेज दिये जाते है और असंख्यक स्त्री, पुरुष तथा बच्चे जिनके कठिन और सर्वतर परिश्रम से यह पदार्थ बनाते हैं भोजन तक नही पाते। संसार का नाचघर हो जाता है जिसमें नाम के आधार पर पूँजीपति नाचा करते हैं। उनमे हार जीत रहती है और उसके परिणाम मे असंख्य अशिक्षित निर्धन मनुष्य नंगे तथा भूखे रहते हैं। तथा भांति भांति के कष्ट उठाते हैं। वे बेचारे कुछ कह भी नही पाते। क्योकि उन मे इतनी शक्ति नहीं होती। परस्पर दांव पेंच मे कुछ लोग इतने शक्ति शाली भी हो जाते हैं कि उन्हे पराजित करना भी प्रायः असम्भव हो ही जाता है। इस के विपरीत दूसरे लोग ऐसी स्थित मे होते है कि स्थान बदले बिना विजयी हो ही नही सकते। यह लोग फिर मजदूरों और किसानों का संगठन करते है और उन्हे अपने साथ लेकर प्रचलित शासन को परिवर्तन करने की चेष्टा करते हैं। एक बार मार काट होती है और जन साधारण को उस मे प्राणों की आहुति देना पड़ती है ताकि एक प्रकार के जुआरियों के स्थान में उसी ढंग के दूसरे जुआरी आसनारूढ़ हो जावे। अथवा एक पूँजीपति या शासक के स्थान मे उसी नीति को चलाने वाला दूसरा पूँजीपति अथवा शासक आजावेगा। समाजका अन्तिम रूप यही होता है

वड़े बड़े देशों को सर्व व्यापी महा युद्ध में सम्मिलित होना पड़ता है। और उस के घातक परिणाम संसार को ही प्रभावित करते है।

इन अवगुणों से बचाने के लिये ही श्रेणी रहित समाज की आवश्यकता है। और समाजवादी संगठन मे ही यह दूर हो सकते है। वर्गों का अन्त समाजवादी संगठन का आवश्यम्भावी परिणाम है जिस में उपज एक निश्चित योजना के आधार पर होती है और उस का फल उपज करने वालों में कार्य की संख्या तथा गुण के अनुसार बाटा जाता है।

काम करने की प्रेरणा

—:o:—

पूँजीवाद

समाजवाद और साम्यवाद के विरुद्ध सबसे बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि इसमे मनुष्यों को काम करने की इच्छा ही न रहेगी। और विना इस प्रकार को इच्छा के किसो आथिक संगठन से तनिक भी लाभ नहीं हो सकता। वास्तव मे किसो आथिक संगठन के लिये आवश्यक है कि उसके प्रत्येक काम करने वाले मे स्वेच्छा पूर्ण, संलग्नता तथा लगातार काम करने को इच्छा हो। तभी सगठन सफल हो सकता है।

देखना यह है कि पूँजोवाद, समाजवाद अथवा साम्यवाद किसमे कितना २ प्रोत्साहन इस इच्छा की ओर है और क्या २ ?

पूँजीवाद में कुछ काम करने वाले निस्संदेह अधिक परिश्रम करते है उनसे ऐसा कराने के लिये इस संगठन मे पुरस्कार और दण्ड दोनों ही का प्रयोग होता है। पुरस्कार भी दो प्रकार के होते हैं प्रथम तो वह जो पूँजोपतियों को दिया जाता है। वे तो अपनी पूँजो कल कारखानों में लगाते हैं और स्वयं उन्हे चलाते है और उनके द्वारा लाभ उठाते है अथवा उसे हिस्सों के मोल लेने और बेचने में लगाते है। प्रायः इन कामों का पुरस्कार भी बहुत

वहुत होता है इसके अतिरिक्त दूसरा पुरस्कार, वकीलों, डाक्टरों, नाट्यकारों, लेखकों, इन्जीनियरो इत्यादि को दिया जाता है। इनका भी पुरस्कार वहुत अधिक होता है कि वे स्वयं ही, किसी न किसी उपाय से कोई न कोई उपज का साधन स्वयं ही, माल ले लेते हैं। और पूँजीपति वर्ग मे ही सम्मिलित हो जाते हैं।

पुरस्कार द्वारा काम करने की इच्छा तो इन्हीं वर्गों में पैदा की जाती है अधिकतर मज़दूर तो और ही कारणों से काम करते हैं। हाँ साधारणतया लोगों का ऐसा विचार अवश्य है कि अधिकतर शारीरिक व मानसिक काम करने वाले, पुरस्कार द्वारा ही काम करने को प्रोत्साहित किए जाते हैं और उसी कारण वे विना किसी दबाव के सुवह से शाम तक अपने पुरस्कार के लालच में काम करते हैं। कहा भी यही जाता है। मज़दूरों को वतलाया जाता है कि प्रारम्भ मे सवही वरावर होते हैं और वाद में लोग अपने काम, चातुर्य्य, कौशल से धनी हो जाते हैं और दूसरे अपनी अकर्मण्यता, तथा मूर्खता से निर्धन ही रह जाते हैं परन्तु वास्तव में स्थिति ऐसी है नहीं। अमेरिका तथा ब्रिटेन पूँजीपति देशों मे प्रारम्भ में भले ही इस प्रकार धनी हो जाने का लालच मजदूरों को काम करने के लिये प्रोत्साहित करता हो परन्तु अव तो, यह लालच मजदूरों को काम करने के लिये प्रोत्साहित करने में अधिक महत्व का नहीं।

पूँजीवाद मे, मजदूरों को काम के लिये प्रोत्साहित कराने को एक दूसरे प्रकार के पुरस्कार से भी प्रयोग होता है और पहिले का यह अधिक वास्तविक भी है। उपज के साधनों को मोल ले सकने का अवसर पूँजीवाद में, मजदूरों को कदाचित ही कभी मिलता हो, परन्तु अच्छे और परिश्रमी मजदूरों को उनके वेतनों में वृद्धि अवश्य दी जाती है ताकि वे अपने रहन सहन को अच्छा कर सकें। अच्छे काम के लिये अधिक वेतन देकर मजदूरों को अपने काम में शिक्षा ग्रहण करने और कुशल होने की भावना

उत्पन्न की जाती है। प्रायः काम के अनुसार वेतन देकर उन्हे शीघ्र और अधिक काम करने को प्रोत्साहित किया जाता है।

बेकारी का भय

इस प्रकार के पुरस्कार अधिक वास्तविक है। और उनसे काम में प्रोत्साहन अवश्य मिलता है। पूँजीपति बनने का अवसर प्रदान करने वाले पुरस्कार तो वास्तव मे व्यर्थ ही हैं क्योकि अधिकतर मजदूरों को कभी ऐसे अवसर मिलते ही नहीं। दूसरे प्रकार के पुरस्कारों का प्रयोग भी पूँजीवाद में अब बहुत कम हो गया है, शिक्षित तथा अशिक्षित मज़दूरों के वेतनों में अन्तर भी अब अधिक नही। इस प्रकार मज़दूरों को काम के लिये प्रोत्साहित करने वाले ये पुरस्कार पूँजीवाद मे अधिक प्रयोग में नही आते। वास्तव मे पूँजीवाद में मजदूर दण्ड के भय से ही काम करते हैं। उन्हे पूँजीपति बनने का अवसर मिलने का लोभ और न अधिक वेतन को आकांक्षा अपने काम पर रहने के उत्साहित करती है। वरन् इस भय से कही काम से निकाल न दिए जावे और अपने अन्य साथियों की भाँति उन्हे भी बेकार रहकर भूखे मरना पड़े, वे अपने काम पर जमे रहते हैं। और बड़े परिश्रम से काम भी करते हैं, चाहे उन्हे कितनी कम वेतन ही क्यों न मिलें, कभी कभी तो कम वेतन मिलने पर भी वे इतने अधिक परिश्रम से काम करते हैं कि प्रायः वे रोग ग्रसित होकर अकाल मृत्यु को ही प्राप्त हो जाते हैं। इतना काम और परिश्रम वे क्यों करते हैं। कौन बात उन्हे ऐसा करने को प्रोत्साहित करती है? उत्तर बड़ा सरल है। और वह है बेकारी का भय। जिसके भयंकर परिणामों को सोचकर वे सततर भयभीत रहते हैं। यह दण्ड मज़दूरों को उपज के साधनों के पास पहुँचने तक नही देता उनके लिए कारखानों के दरवाजे बन्द कर दिए जाते हैं, ताकि वे अपनी जीविका निर्वाह ही न कर सकें। सब

मज़दूरों को न काम मिल सकने के कारण, काम करने वाले मज़दूरों पर पूँजीपतियों का प्रभुत्व और भी अधिक रहता है। क्योंकि निकाले गए मज़दूरों के स्थान पर काम करने को सदैव ही सहस्रों बेकार मज़दूर प्रस्तुत रहते है। और इसी कारण पूँजीपति को कम वेतन देने और अधिक परिश्रम लेने पर भी इस बात का पूरा भरोसा रहता है कि उन्हे काम कराने के लिये मज़दूरों को ढूँढ़ने की आवश्यकता न होगी और पर्याप्त संख्या में मज़दूर स्वयं ही उनके पास आ जावेंगे।

पूँजीवाद में, काम का प्रोत्साहन यही बेकारी का भय ही है, जिससे मज़दूर केवल काम ही नहीं करते वरन् बड़े परिश्रम से पूरी शक्ति भर काम करते है। यह प्रोत्साहन अवश्य है परन्तु इसका आधार पुरस्कार न रहकर दण्ड और दबाव है। सत्य तो यह है कि पूँजीवाद में मज़दूरों से बेगार ली जाती है और इन दबावों के रहने से यह बेगार अधिक कष्टकर भी होती है। प्राचीन सेवक बृत्ति में, मालिकों को यह भय रहता था कि यदि उन्होंने अपने सेवकों से अधिक परिश्रम से काम लिया और वे रोग ग्रसित हुए अथवा उससे उनकी मृत्यु ही हो गई, मृत्यु का उत्तरदायित्व उन पर होगा। और सम्भवतः उन्हे आर्थिक हानि भी हो परन्तु वर्तमान पूँजीवाद में तो यह भी नहीं है। कल कारखानों मे काम करने वाले मज़दूर वैसे तो स्वतन्त्र रहते है। अधिक परिश्रम का काम अस्वीकार करने मे उन्हे कोई क़ानूनी वाधा भी नही होती है। जिन शर्तों पर मिल मालिक उन्हे काम पर रखना चाहते हैं, उसे वे अस्वीकार भी कर सकते हैं परन्तु वे ऐसा कर नहीं पाते। क्योंकि यदि वे ऐसा करते है, तो उन्हे अपने जीवननिर्वाह से ही हाथ धोना पड़ता है। तथा उनके बाल बच्चे भूखे मरते हैं। परन्तु उनके इन कष्टों का उत्तरदायित्व किसी दूसरे पर डाला भी नहीं जा सकता। प्रत्यक्ष में उनका उत्तर दायित्व उन्हीं पर रहता है और वे ही मरते भी हैं।

इस प्रकार पूँजीवाद मे मजदूर से वास्तविक अथवा अवास्तविक पुरस्कारों द्वारा काम नही करते। वरन् वे काम करने का विवश किये जाते हैं और पूँजीपति उन पर मनमानी शर्तें लगाते हैं जो उन्हे भूख और बेकारी के कारण स्वीकार करनी पड़ती हैं। और उसी से भयभीत होकर वे इच्छा न होते हुए तथा कम वेतन लेकर भी लगातार काम करते रहते हैं। इन परिस्थितियों से निकलने का वे प्रयत्न तक नहीं करते। यहाँ पर भी वही भय उन्हे अपने कर्तव्य से पीछा हटाये रहता है।

यह प्रोत्साहन तो उन लोगो के लिये हो सकते है जो पूँजीवाद मे अब भी काम पर हैं। इसके अतिरिक्त १५ प्रतिशत से ३० प्रतिशत मजदूर तो सदैव बेकार ही रहते हैं, और उनके लिए किसी प्रकार का प्रोत्साहन पूँजीवाद में है ही नही। इतने नवयुवक स्त्री पुरुषों को काम न मिलना कितने अनर्थ की बात है और विशेषकर ऐसे समय में जबकि वे अपनी शिक्षा समाप्त करके नवीन जीवन मे पदार्पण करते हैं। आज पूँजीवाद द्वारा सहस्रों नवयुवकों को बेकार रह कर निराशा और भूख के कष्टों को सहन करना पड़ता है। परन्तु फिर भी यही कहा जाता है कि पूँजीवाद मे मनुष्यों को काम के लिये प्रोत्साहित करने वाले प्रलोभन अधिक है। आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसे बेकार भी इस बात पर विश्वास रखते तथा उसका समर्थन करते है। और व्यापार तथा उद्योग धन्धों के व्यक्तिगत अवसरों की स्वतन्त्रता को ही नयामत मानते हैं। पूँजीवाद के कारण बेकारी और उससे होने वाले क्लेशों को भोगते हुए भी वे सदैव यही कहते है कि उद्योगो की उन्नति के लिये वैयक्तिक उद्योग और प्रलोभनों का रहना ही आवश्यक है। और उन्हे रखना ही चाहिये। अन्यथा लोग काम ही न करेंगे। परन्तु इस प्रकार का विचार सदैव नही रह सकता। जीवन के अनुभवो का प्रभाव देर सवेर अवश्य होगा। और इसे समझने मे जितना ही विलम्ब होगा। उसका प्रभाव भी उतना ही दीर्घकालीन रहेगा।

अस्तु, पूँजीवाद के प्रलोभन संक्षेप में इस प्रकार कहे जा सकते हैः—

(१) अधिक लाभ के प्रलोभन से पूँजीवाद पूँजीपति वर्ग को विशेषकर काम के लिये प्रोत्साहित करता है जिसका फल अन्त में घातक ही सिद्ध होता है।

(२) अधिक वेतन देकर पूँजीवाद मज़दूरों से एक सीमा तक अधिक परिश्रमी काम ले लेता है वेतन अथवा लाभ की वृद्धि ही इसका प्रलोभन रहता है।

(३) परन्तु मज़दूर वर्ग काम के लिये प्रोत्साहित होने के बजाय अधिकतर काम करने को विवश ही होता है।

(४) पूँजीवाद का प्रलोभन, प्रलोभन न रहकर भय का ही काम करता है और उसका आधार भी पुरस्कार की आशा के स्थान में भय की आशंका हो जाती है।

(५) इसमें दबाव से काम होता है। मज़दूर भयभीत रहकर काम करते रहते है। भले ही इस दबाव और भय मे प्राचीन समय के मालिको के कोड़ों से थोड़ी भिन्नता हो।

(६) मज़दूर वर्ग में जो बेकार है उनके लिये इस पूँजीवादी व्यवस्था में कोई प्रलोभन ही नहीं है। उन्हे तो काम करने का अवसर ही नही मिलता।

पूंजीवाद में इसी ढंग पर काम होता है प्रलोभनों द्वारा काम होना, ऐसा कहना तो भूल ही है। वास्तव मे काम तो बेकारी भूख और उससे होनेवाले कष्टों की आशंका से ही किया जाता है। प्रलोभन तो केवल कहने मात्र को ही रहते हैं। और न उनका कोई व्यो-हारिक महत्व ही है। फिर भी, यदि स्वीकार भी कर लिया जावे कि

पूँजीवाद मे काम कराने को प्रयाप्त प्रलोभन हैं और इन्हीं के कारण उपज भली भाँति हो जाती है, तो भी केवल इतने ही से यह नही कहा जा सकता कि इसके स्थान मे समाजवादी व्यवस्था हो ही नही सकती जब तक कि उसके प्रलोभनों पर भी विचार न हो जावे। देखे समाज-वाद के क्या प्रलोभन हैं ?

काम करने की प्रेरणा

—:o:—

समाजवाद

पूँजीवादी व्यवस्था में मज़दूरों को काम के लिये प्रोत्साहित करने वाले प्रलोभनो पर विचार किया जा चुका है। अब समाजवाद के आधीन इनकी तुलना करना है। तुलना के पश्चात ही यह कहा जा सकता है कि कौन सी व्यवस्था मे काम की इच्छा अधिक है। और उसी के अनुसार व्यवस्था की अच्छाई बुराई का निर्णय हो सकता है।

पूँजीवाद की तरह समाजवादी संगठन मे भी यह तो प्रतिवन्ध रहता ही है कि स्वस्थ स्त्री व पुरुष काम न करने से अपना जीवन निर्वाह प्राप्त न कर सकेंगे। उनसे काम कराने के लिए यह एक दवाव रहता है। और निस्सन्देह पूँजीवाद से कहीं अधिक सख्ती के साथ इसका प्रयोग समाजवाद में होता है। पूँजीवाद में इसका प्रयोग केवल मज़दूर वर्ग के लिये ही होता है पूँजीपति वर्ग के तो विना काम के ही जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त हो जाती है केवल यही नही, वरन् आवश्यकता से कहीं अधिक संख्या में प्राप्त होती है। उपज के लाभ का एक बड़ा लाभ उन लोगों को मिलता है जो भाग्य अथवा अभाग्यवश पूँजीपतियों के वंश में जन्म लेते हैं। उनसे काम की कभी आशा भी नहीं की जाती।

परन्तु समाजवाद मे वे इस प्रकार भाग्य शाली नही रह सकने। वास्तव में तो ऐसे लोग अभागे ही हैं क्योंकि विना काम किए इस प्रकार अधिक धन मिल जाना, उनके तथा उनके वाल बच्चों के लिये भी हानिकर ही सिद्ध होता है। समाज के लिये तो वह ऐसा है ही। सुस्ती, आलस्य, अकर्मण्यता इत्यादिक रोग उनमे सहज ही आ जाते हैं। और उनसे होने वाले दुखद परिणाम उन्हे झेलना पड़ते हैं।

समाजवाद उन्हे भी अपने जीवन निर्वाह के लिये काम करने को विवश करता है और इस प्रकार उन लोगों का भी जो पूँजीवाद मे काम करने से वच रहते हैं काम पर लगा देता है। परन्तु यही नही कि काम न करने पर उनके जीवन निर्वाह का ही अन्त कर दे और फिर उन्हे काम न देकर दूसरे शब्दों मे वेकार रख कर, उनका काम करना ही असम्भव कर दे, जैसा की पूँजीवाद मे होता है। वरन् मोटे शब्दों में, समाजवाद मे प्रत्येक योग्य मनुष्य के लिये काम करना आवश्यक होता है। और साथ ही साथ वेकारी दूर करके उन लोगों के लिये काम करना सम्भव भी किया जाता है। इसके अतिरिक्त समाजवाद में यह सिद्धान्त पूरे जन समाज पर एक ही ढंग से लागू किया जाता है। पूँजीवाद की तरह केवल पूँजी रहित वर्ग पर ही सीमित नही रहता। दूसरे जिस प्रकार पूँजीवाद मे पूंजी से लाभ न प्राप्त कर सकने वाला मजदूर वर्ग आर्थिक संकटों के कारण, काम करने को विवश होता है, ठीक उसी प्रकार समाजवाद मे मनुष्य काम करना अस्वीकार भी कर सकता है। यदि वह अन्य उचित उपायों से अपने जीवन निर्वाह का प्रबन्ध कर सके। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था असम्भव नही तो कठिन अवश्य होती है। और इसी कारण पूँजीपति अथवा उसी प्रकार के अन्य वर्ग समाजवाद के इस ढंग को दासता इत्यादिक नामों से पुकारते हैं। काम का सिद्धान्त सव पर समान लागू होना उन्हे विशेष अखरता है। जो लोग इस समय तक काम करने से वचे रहते है, उन पर भी भोजन के लिए ऐसे प्रतिबन्ध लगाना जो अन्य लोगों पर प्रारम्भ से ही रहते है,

कुछ धनी लोगों को दासता सी ही प्रतीत होती हैं। परन्तु उस सम्पूर्ण जन समाज को जो निरन्तर काम करके ही अपना पेट भरता है यह थोड़ी सी कुछ लोगों की असुविधा से, उससे होने वाले गुण कहीं अधिक जचते है। वास्तव मे तो उन्हे यह कोई असुविधा प्रतीत भी नहीं होती कि कुछ धनी लोगों की सुस्त और बेकार रहने की सुविधा दूर हो जावे और उन्हे भी अन्य लोगों की भाँति ही काम करके अपना जीवन निर्वाह करना हो।

काम छांटने का अवसर

समाजवाद के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि इसमें काम करने वाले को काम छाँटने का अवसर नहीं मिलता। क्योंकि ऐसी व्यवस्था में केवल एक ही मालिक (शासन) रहता है और अन्य सब मजदूर उसी के आधीनस्थ काम करते हैं। मजदूरों को ऐसी स्थिति मे अपने मालिक छाटने और उनसे अपने काम के लिये सौदा करने का अवसर नहीं मिलता। परन्तु ऐसा कहना भी नासमझी की बात है, समाजबादी व्यवस्था में ऐसा है। नहीं वर्तमान समाजवादी संगठन में मज़दूर नौकर रखनेवाली तीन मुख्य संस्थायें तो है ही (१) शासन अथवा म्युनिसिपलबोर्ड के आधीन संस्थाएँ, (२) काम करनेवालों की (Producers) सहयोगी समितियाँ, और (३) ग्राहकों (consumer) की सहयोगी समितियाँ। और इन सब में भिन्न भिन्न प्रकार की असंख्य संस्थायें और हैं जो मजदूरों को काम देती हैं। और इस प्रकार काम को छाँटने इत्यादि की सुविधा की कोई कमी नहीं। श्रीमान तथा श्रीमती वेब ने इस प्रकार की संस्थाओं का वर्णन करते हुए कहा है:—

सोवियट रूसमें सैकड़ों ट्रस्ट (Trust) और कम्बाईन (Combines) हैं। वे सब एक से भी नहीं हैं और उनसे भी अधिक भिन्नता रखने वाले हजारों पृथक पृथक कारखाने है। जो अपने विशेष कार्य्यों के लिये स्वतन्त्र रूप से चलते हैं। किसी ट्रस्ट इत्यादि से उनका सम्बन्ध नहीं। उनका उत्तरदायित्व सीधे उच्च अधिकारियों से ही रहता है।

छोटे छोटे देहाती कारखाने, प्रान्तीय संस्थायें, स्वायत्त प्रजातान्त्रिक समितियाँ इत्यादि भी हैं। इनका प्रबन्ध और संगठन रूस के प्रचलित संगठन के समान भी नहीं और न सीधे सोवियट यूनियन या उनके प्रतिनिधियों के आधीनस्थ ही हैं। सदस्यों को भाग देने के लिये मजदूर संघ, कारखाना कमेटी इत्यादिक हजारों सहायक तथा सहयोगी समितियाँ हैं जो बटवारे के अतिरिक्त उपज का काम भी करती है।

इसी प्रकार इन सब कारखानों में मजदूरों को काम छांटने की अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है।

इसके अतिरिक्त जो लोग बेतन के लिये काम न करना चाहे वे सामूहिक खेतों मे काम ले सकते है। रूस मे लगभग ढाई लाख ऐसे खेत भी हैं। और भी, यदि मजदूरों में योग्यता हो, तो वह स्वयं अपनी वस्तु बना कर बेच सकते हैं सम्वाददाता, सम्पादक, अथवा लेखक हो सकते है, घरों की मरम्मत अथवा रँगाई कर सकते हैं। संगीतज्ञ होकर जीवन निर्वाह कर सकते हैं अथवा कारीगर होकर भिन्न भिन्न प्रकार के पदार्थ बना सक हैं, वे चाहे तो सहयोगी समितियों मे सम्मिलित हो जावे अथवा स्वतन्त्र रूप से ही काम करे। 'केवल एक प्रतिबन्ध उन पर अवश्य है और वह यह कि वे दूसरों को नौकर रखकर उनसे वेतन पर काम लेकर लाभ नही उठा सकते। अन्य सब बातों मे वे पूर्णतया स्वतन्त्र है।

इस प्रकार समाजवाद में काम लेने के लिये यह सिद्धान्त तो रहता ही है कि काम करनेवालों को ही आय मिलेगी, ताकि समाज मे किसी व्यक्ति के लिये यह सम्भव न रहे कि वह लाभ तो उठा लें परन्तु काम कुछ न करें।

पुरस्कार नीति

मजदूरों से काम लेने वरन् अच्छा काम लेने के लिए समाजवाद केवल इसी सिद्धान्त पर आश्रित नहीं रहता। इसमे पुरस्कार की एक निश्चित नीति भी है ताकि समाज के प्रत्येक मनुष्य से अच्छा और अधिक परिश्रमी काम ठीक प्रकार से लिया जा सके। समान

वेतन की नीति पहिले ही अस्वीकार की जा चुकी है अस्तु अच्छे काम के लिये अधिक वेतन तथा पुरस्कार देने की व्यवस्था समाजवाद में होती है और इस प्रकार पूँजीवाद से अधिक प्रलोभन इसमे मनुष्यों को अच्छा और परिश्रमी काम करने के लिये रहता है।

इससे एक बड़ा भारी भ्रम भी दूर हो जाता है बहुतों का ऐसा विचार था कि अधिक धन के लालच से ही मनुष्य काम करते है और यह अधिक धन पूँजी संग्रह मे लगाते हैं। जिसके अर्थ उपज के साधनों का वैयक्तिक अधिपत्य होते है जो समाजवादी संगठन में असम्भव है। परन्तु इससे यह कदापि सिद्ध नही होता है कि समाजवाद मे अधिक वेतन का प्रलोभन देकर काम लिया ही नहीं जा सकता। उपज के साधनों पर अधिपत्य पाने का अवसर न देते हुए स्वयं पूँजीवाद में भी अधिक वेतन के प्रलोभन का प्रयोग होता है। एक सैनिक पदाधिकारी, सवैतनिक दफ्तर अथवा बैंक का कर्मचारी, मज़दूर इत्यादि को काम की प्रेरणा करनेवाली यही बात रहती है कि यदि अच्छा काम करेंगे तो अच्छा वेतन मिलेगा। पूँजीपति होने की आशा उन्हे नही होती क्योंकि उपज के साधनों को वे पा नहीं सकते। परन्तु अधिक वेतन की तीव्र इच्छा उन्हे निस्संदेह रहती है ताकि इस बढ़ती से वे आवश्यक पदार्थों को अधिक संख्या मे ले सकें और अपने रहन सहन को बढ़ा सकें। पूँजीवाद के अनुभव से भी यह सिद्ध होता है कि काम कराने के लिये अधिक वेतन एक बहुत प्रभावशाली प्रलोभन है उपज के साधनों पर अधिपत्य हो अथवा न हो।

समाजवाद में इस प्रलोभन का अधिक शक्ति के साथ प्रयोग हो सकता है। सब काम करनेवालों को समान अवसर प्रदान करने की नीति से प्रत्येक कार्य्यकर्त्ता को अच्छे वेतन वाला काम मिल सकता है। वर्तमान समय मे, शिक्षा, वर्ग सम्बन्ध, कौटुम्बिक संकीर्णता इत्यादि बन्धन ऐसे हैं जिनके कारण कार्य्यकर्त्ता ऊचे वेतनवाले बहुत से पदों पर पहुँच नहीं स

इसी कारण उनके लिये इनका प्रलोभन व्यर्थ है। क्योंकि वे भली भांति जानते हैं कि चाहे जो कुछ भी वे करें उन्हे वे पद मिल नहीं सकते समाजवाद ऐसे वन्धनों का अन्त कर देता है और ऐसा करके मजदूरों के अच्छे काम के लिये विशेष प्रोत्साहन देता है।

वेतन योजना

समाजवाद मे अच्छे काम के लिये अधिक वैयक्तिक पुरस्कार को नीति विशेष रूप से चलाई जाती है जहाँ जहां और जब भी सम्भव हो, काम के अनुसार वेतन देने को व्यवस्था (Piece wage) की गई है। इसके अतिरिक्त काम की माँग के अनुसार सब काम करने वालो के वेतन एक निश्चित वेतन दर पर निर्धारित किये गये है। एक प्रकार के कामों के लिये एक नियत वेतन निश्चित है और उससे कम अथवा अधिक, काम की संख्या और गुण को ध्यान मे रखकर भिन्न २ काम करनेवालों का वेतन एक निश्चित योजना के आधार पर नियत होता है।

मजदूर संघ, किसी एक व्यापार के मजदूरों को भाँति भाँति के दरजों मे बॉट देता है। कम से कम परिश्रम से लेकर अधिक से अधिक शिक्षित काम के दरजे बना दिये जाते हैं। और फिर प्रत्येक दरजे के लिये प्रति घन्टा को एक रकम निश्चित कर दी जाती है। अथवा अधिक कारीगरी के कामों मे जितना भी अधिक अन्तर इस घण्टे की दर मे सम्भव हो रक्खा जाता है ताकि अधिक से अधिक प्रलोभन रहे। अब प्रश्न यह उठता है कि काम करने वाले इन भिन्न भिन्न दरजो मे किस आधार पर रक्खे जाते है। आधार उन काम करने वालों की प्रार्थना होती है। नीचे दरजे मे काम करने वाला मजदूर ऊंचे दरजे मे रक्खे जाने की माँग कर सकता है। और यदि वह उस दरजे का अधिक कारीगरी का काम कर सकता है तो उसकी प्रार्थना स्वीकार होती है। दूसरे दरजे मे काम करने का अवसर मिलने और

उस स्थान पर भली भाँति काम करने लगने पर उसे उस दरजे का वेतन भी मिलने लगता है।

मानसूचक पदवियाँ

इससे यह स्पष्ट है कि समाजवाद में अच्छे काम के लिए अधिक वेतन का पूँजीवाद से कहीं अधिक, प्रोत्साहन रहता है। श्रीमान् व श्रीमती वेब का तो यहाँ तक कहना है कि सोवियट रूस में अधिक योग्य परिश्रमी तथा उत्साही काम करने वालों का नीचे दरजे से ऊँचे दरजे मे पहुँचने के अवसर बहुत अधिक है। अन्य किसी देश में साधारणतया वे इतने स्वाभाविक नहीं रहते इस बात मे पूँजीवादी मालिक प्रायः रूस के उद्योगिक संचालकों की ओर ईर्षा से ताकते है। वे लाभ उठाने में अपनी दूरदर्शिता को सब से अधिक समझते थे। परन्तु इस प्रकार के प्रोत्साहनों द्वारा रूस मे मज़दूरों से इतना अधिक और अच्छा काम होते देखकर उन्हें भी आश्चर्य होता है। फिर नीचे दरजो से ऊँचे दरजो मे जाना तो पहिली ही सीढ़ी है समाजवादी संगठन मे प्रत्येक काम करने वाला यही नहीं कि वह कार्यकर्ताओं में सर्वोच्च श्रेणी के काम तक पहुँच सके वरन् उससे भी आगे प्रबन्धको और संचालकों के उच्च उत्तरदायित्व के पदों पर पहुँचने की इच्छा करता है और अपनी ही चेष्टाओं द्वारा पहुँचता भी है। निस्संदेह इन पदो का वेतन उससे भी अधिक होता है। अस्तु

अवसर न मिलने से हानि

काम के लिये प्रोत्साहित करने वाले प्रलोभनों में अधिक वेतन का लालच प्रमुख है जिससे मनुष्य काम करते हैं और उन्नति की आशा बाँधते है। बहुत से स्त्री पुरुष इस उन्नति द्वारा प्राप्त शक्ति से काम करने के लिये लालायित रहते हैं। शक्ति से मान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उच्चकोटि मे उन्नति पाने से जन साधारण मे वे योग्य माने जाते हैं। इस मान के लिये

वे सब कुछ करने को तत्पर रहते हैं। कोई कारण नहीं कि समाजवादी संगठन में इस प्रकार के मान, पदक, इत्यादि का प्रयोग क्यों न हो, जिससे मनुष्यों मे काम करने की प्रेरणा बढ़ें। प्रचलित समाजवादी संगठन में ऐसे पदक तथा मानसूचक पदवियाँ दी भी जाती है और उनसे यथार्थ परिणाम भी होता है। भले ही इनके दुरुपयोगों से वर्तमान पूँजीवादी देशों मे इस प्रकार के पदक घृणा और स्पृधा की दृष्टि से देखे जाते हों। देश रत्न, देश बन्धु देश प्राण, इत्यादि मान व पदवियाँ वास्तव में प्रोत्साहन का काम करती है। इसके अतिरिक्त ऊँचे दरजे में उन्नति से अधिक अच्छा और उपयोगी काम होता है। इसी के द्वारा मनुष्यों को शारीरिक व मानसिक शक्तियों के विकास का अवसर मिलता है। मनुष्य इसके द्वारा अपनी उपयोगिता सिद्ध कर पाता है, जिससे उसे आगे उन्नति का अवसर प्राप्त होता है। उच्चकोटि मे पहुँचना ही एक बड़ा पुरस्कार है। उन्नति न कर सकना किसी मनुष्य के लिये एक बड़ा दुर्भाग्य है। प्रसिद्ध अंगरेज़ लेखक शेकसपियर ने हेमलेट की उदासी का कारण केवल उसके इन्ही वाक्यों से जान लिया था कि श्रीमान् मै उन्नति मे पीछे क्यों रह जाती हूँ।" (why sir? I lack advancement) निराशा जीवन को ही हतोत्साह कर देती है। फिर आज कल पूँजीवादी देशों में लाखों मनुष्य केवल उन्नति मे पीछे ही नही रह जाते वरन् उन्नति करने की उनकी आशा ही लोप हो जाती है। जनता के एक बड़े भाग से ज्ञान, शिक्षा, तथा बुद्धि के प्रयोग की सम्भावना ही छीन ली गई है। खदानों का पूरा प्रबन्ध कर सकनेवालों को प्रायः कोयला खोदने का ही काम मिलता है। बड़े बड़े कारखानों को सुचारु रूप से चला सकने की योग्यता रखनेवाले विशेषज्ञ, एक साधारण कर्मचारी (clerk) का ही काम करके अपना पेट पालने को विवश होते है स्थिति तो इससे भी गिरी हुई है। आर्थिक व्यवस्था की अनुपयोगिता के कारण अधिक योग्य और अनुभवी मनुष्यो को भी प्रायः साधारण कुली का ही काम करना पड़ता है। उन्हे अपनी योग्यता दिखाने तथा उसे बढ़ाने का अवसर ही नही मिल पाता। उन्हे तो केवल निराशा ही होती हैं, परन्तु उनकी योग्यता से

पूरा २ लाभ न मिलने के कारण समाज को कितनी हानि पहुँचती है इस का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे अधिक अंधेर और क्या हो सकता है ।

इसके विपरीत समाजवाद का तो यह दावा है कि उसमें प्रत्येक योग्य स्त्री पुरुष को यही नहीं कि अपने ज्ञान, बुद्धि तथा योग्यता प्रदर्शित करने का अवसर ही मिलता हो, वरन् उन्हें अपनी शक्ति को प्रयोग करने का प्रोत्साहन दिया जाता है। और सत्य तो यह है कि वे एक प्रकार उन्हें बढ़ाने को विवश ही किए जाते हैं।

समाजवादी उद्योगों मे ऐसे ही प्रलोभन रहते हैं जो मज़दूरों को काम करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। दूसरे प्रकार के प्रोत्साहनों का अधिकतर प्रयोग सहयोग समितियों द्वारा बनने वाले पदार्थों में होता है। ऐसी समितियाँ खेती और तत् सम्बन्धी पदार्थों की उपज में काम करती है। गोकि उद्योगिक पदार्थ बनाने में भी इनका कुछ भाग रहता है। इन संस्थाओं के उपज के साधन भी अपने ही होते हैं। और बनने पर पदार्थों का स्वामित्व भी इनका ही रहता है। इस प्रकार सामूहिक क्षेत्रों के किसान अपनी फसल के स्वयं मालिक होते हैं । पर अन्य किसानों की भाँति उन्हें भी शासन को कर देना होता है और उनमें उत्पन्न पदार्थ अनाज इत्यादि या तो वे उसी तरह आपस मे बांट लेते हैं अथवा उन्हे बेंचकर बिक्री मे प्राप्त धन का बँटवारा कर लेते हैं। इसी भाँति कारीगरी के पदार्थ बनानेवाली सहयोगी समितियाँ भी, बने पदार्थों को बेंचकर अपने सदस्यों को काम का पूरा पूरा भोग देती है। बाज़ारों मे अच्छा मूल्य पाने का लालच ही उन्हे अधिक परिश्रम से अच्छा काम करने के लिये प्रोत्सहित करता हैं। अच्छे पदार्थ बनने पर उन्हे उनका मूल्य अधिक मिलेगा जिससे प्रत्येक की मज़दूरी अधिक होगी। ऐसी ही स्थिति उन वैज्ञानिक कार्य्यकर्ताओं, कलाकारों, कारीगरों, मानसिक कार्य्यकर्ताओं सम्पादकों, लेखकों इत्यादिक की है जो अपने काम अथवा सेवाओं का स्वयं बाज़ार में सौदा करते हैं।

इन कार्य्यकर्ताओं को स्थिति, पूँजीवादी समाज से किसी प्रकार भी समाजवाद से भिन्न नही। क्योंकि दोनों में ही उनके काम का बाजार मे सौदा होता है। और उससे उन्हें धन मिलता है। अन्तर केवल इतना है कि समाजवादी संगठन में समितियां के सदस्य अपने काम से प्राप्त पदार्थ स्वयं अथवा समिति द्वारा बेचते हैं और उससे धन प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत पूँजीवाद में एक पूँजीपति अपने मजदूरों के काम से प्राप्त सब पदार्थों को बेचता है। और मजदूरों के वेतनों की रकम से अधिक धन बिक्री द्वारा प्राप्त करके लाभ उठाता है।

निजी काम की व्यवस्था

सहयोग समितियों के सदस्यों के सम्बन्ध मे, जिनके द्वारा अधिकतर पदार्थ बाजारों में बेचे जाते हैं, कई प्रकार के मिश्रित प्रोत्साहन रहते हैं। सर्व प्रथम तो समिति के सब सदस्य यह भली-भांति जानते हैं कि बटवारे की कुल रकम उनके परिश्रम पर ही निर्भर है। जितना अधिक परिश्रम वे करेंगे, उतना ही द्रव्य बढ़ेगा। और उसी के अनुसार उनके भाग मे वृद्धि होगी। परन्तु तो भी एक बड़े समूह के कार्य्य मे यह काफ़ी प्रोत्साहन नही होता और इसी कारण इन समितियों के प्रत्येक कार्य्य कर्ता को भी अपने काम की संख्या और गुण के अनुसार ही कुल व्यय के बटवारे में पृथक २ भाग मिलता है अथवा घण्टों के अनुपात से ही वैयक्तिक भाग निश्चित होते हैं। इन दोनों प्रोत्साहनों के साथ साथ एक और प्रलोभन भी रहता है। सामूहिक क्षेत्रों में सदस्य अपने कुटुम्ब की आवश्यकताओं को पूरा करने अथवा उपज को बेचने के लिए वैयक्तिक कृषि कर सकते हैं और करते भी हैं।

इस प्रकार रूस में सामूहिक क्षेत्रों के किसान भी गाय, सुअर अथवा मुर्गी पालकर, तथा अपने मकान के आस पास तीन एकड़ तक वैयक्तिक कृषि करके, अपनी निजी सम्पत्ति को बढ़ा सकते हैं। ऐसा करने को वे उत्साहित भी किये जाते हैं। प्रायः जिले की

मुख्य स्थाई उपज भी सहयोग के आधार पर ही की जाती है। परन्तु ऐसी वैयक्तिक उपज में भी कोई मनुष्य किसी अन्य मनुष्य को वेतन पर रखकर उससे अपना काम नहीं करवा सकता है।

अस्तु, यही सब प्रोत्साहन है जो समाजवादी संगठन में मनुष्यों को काम करने में दिए जाते है। यही प्रलोभन हैं जो स्वार्थी मनुष्यों को भी काम करने तथा अच्छा और परिश्रमी काम करने को विवश करते है। इन्हीं प्रलोभनों के द्वारा रूस अपनी जनता से अधिक काम ले पाता है।

निस्स्वार्थ सेवाभाव

यह कहना भी उपयुक्त नहीं कि मनुष्य केवल अपने तात्कालिक वैयक्तिक स्वार्थों के अतिरिक्त अन्य किसी बात की ओर ध्यान ही नहीं देते। वास्तव में वे आदर्शवादी स्वार्थ रहित प्रार्थनाओं पर भी पूरा ध्यान देते हैं। और कभी कभी तो ऐसी प्रार्थनाओं पर शीघ्रता से बिना विचार किए कार्य्य करने से अनर्थ तक हो गए हैं। अथवा ऐसा भी देखा गया है कि अच्छे बुरे अथवा साधारण किन्हीं आदर्शों के लिए केवल काम कराना ही नहीं वरन् मनुष्यों से जीवनोत्सर्ग तक करा देना सम्भव हो गया है। जन साधारण की भलाई की लड़ाइयों में मनुष्य प्रायः स्वभावतः कूदने पर तत्पर रहते हैं। और ऐसा करके बहुत सभ्यताओं तथा संगठनों का अन्त करने में वे सहायक भी हुए है। प्राचीन काल में वंश के वंश एक अथवा दूसरे धर्म के नाम पर प्राण दे चुके है। मान, प्रतिष्ठा इत्यादिक विचारों पर अगणित आहुतियाँ दी गई है। मनुष्यों ने अनेक बार स्वार्थ तथा सम्बन्धियों को त्याग करके, अपना सम्पूर्ण जीवन किसी भी एक आदर्श के लिये लगा दिया है जिसे उन्होंने पवित्र समझा। इतिहास मे ऐसे उदाहरण अनेकों हैं जिनसे मनुष्यों की आदर्शवादिता तथा दूरदर्शिता का परिचय मिलता है। जब इस प्रकार सब शासनों मे किसी भी आदर्श के लिये लड़ने और सर्व त्याग करने के लिये मनुष्य उद्यत हो जाते

हैं जिनसे उनका कोई भी निजी स्वार्थ नहीं होता है तब फिर अपने आदर्शों की पूर्ति के लिये समाजवाद को हो क्यों ऐसे मनुष्यों की कमी रह सकेगी प्रचलित समाजवादी संगठन में शासन को इस प्रकार की सुविधायें पूर्ण रूप से प्राप्त भी हैं। ऐसी सुविधायें कुछ तो पुरस्कार अथवा दण्ड नीति से मिलती है। जो व्यक्तियों को प्रभावित तो करती हैं परन्तु उनसे उनके वैयक्तिक स्वार्थों को ठेस नही लगती। जैसे अच्छे काम के लिये सार्वजनिक प्रशंसा और बुरे के लिये बदनामी इस युक्ति का प्रयोग रूस में इस प्रकार होता है कि अच्छे काम करने वाले और उनके काम, एक प्रशंसा की सूची में लिखकर सार्वजनिक स्थानों पर टाँग दिये जाते हैं और बुरे कामों की सूची अलग बना दी जाती है और उसे भी किसी अन्य स्थान पर टाँग दिया जाता है। इसी तरह के उपाय हो सकते हैं। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि जनता को उपज की उन्नति मे वास्तविक इच्छा हो। क्योंकि ऐसी इच्छा के बिना किसी प्रकार का भी सार्वजनिक दबाव उन्हे अच्छा काम करने को विवश न कर सकेगा।

पूँजीवाद में ऐसा सार्वजनिक दबाव हो ही नहीं सकता है। क्योंकि उसमे अच्छे काम अथवा उन्नति के अर्थ पूँजीपति को लाभ पहुँचाना ही होगा। मजदूर को तो उससे कोई लाभ होगा ही नहीं और न समाज को ही उपज के साधनो पर पूरा आधिपत्य होने के कारण, पूँजीपति उपज की बचत का प्रायः सब भाग अपने ही लिये सुरक्षित रक्खेंगे। जनता को उपज की वृद्धि से कोई विशेष लाभ नहीं होगा। परन्तु समाजवाद में ऐसा कभी भी नही हो सकता। इसमे तो कोई ऐसा अधिकारी वर्ग ही नही होता। उपज की वृद्धि से सम्पूर्ण समाज को लाभ मिलता है और इसी कारण उपज की उन्नति तथा अच्छे कामों के लिये सार्वजनिक दबाव डाला जा भी सकता है।

वांछित प्रतिद्वन्दता

प्रथम समाजवादी शासन रूस मे ऐसी तदबीरों का भी प्रयोग

किया जाता है ताकि मनुष्यों के भावों और प्रेरणाओं का पूरा २ लाभ उठाया जा सके। उदाहरण के लिये कामों में परस्पर प्रतिद्वन्दता करादेना, कोई व्यक्ति अथवा दल विशेष, अन्य व्यक्ति अथवा दल को, किसी विशेष काम के लिये ललकार दे कि अमुक कार्य्य को अधिक शीघ्रता से कौन कर पाता है परन्तु शीघ्रता में काम के गुण में कोई अन्तर न पड़ने पावे इत्यादि। ऐसे ही किसी गाँव अथवा कसबे की सम्पूर्ण जनता को प्रोत्साहित किया जा सकता है कि अमुक विशेष आवश्यक कार्य्य सब की भलाई का है और उसे सबको मिलकर पूरा करना चाहिये। और वे सब किसी छुट्टी के दिन जुट कर उसे पूरा करा देते हैं। मास्को (Moscow) के तैखाने बनाने में मिट्टी की सफ़ाई का काम इसी प्रकार लिया गया था। इसके अतिरिक्त उन्नतिशील संस्थाओं पर अशिक्षित अथवा कम उन्नति वाली संस्थाओं अथवा दल को शिक्षित करने तथा अपनी ही भाँति उन्नति शाली बनाने का उत्तर दायित्व सौंप दिया जाता है। किसी प्रारम्भिक पाठशाला के संगठन और उसके सुचारु रूप से चलाने का भार किसी एक कारखाने अथवा वैज्ञानिक क्लब को सौंपा जा सकता है। इत्यादि इत्यादि, ऐसी ही तदबीरें समाजवाद में मनुष्यों से और अधिक अच्छा काम लेने के लिये की जाती है।

यह सत्य है कि पूँजीवादी देशों में भी मनुष्यों में समाज सेवा की इच्छा रहती है। और बहुत सा काम वेतन के विना भी मज़दूरों तथा पूँजीपतियों द्वारा अपने २ क्षेत्रों मे किया जाता है। परन्तु समाजवादी संगठन में ऐसा काम कहीं अधिक, सरलता से सीधे तौर पर लिया जा सकता है। क्योंकि वर्गों की भिन्नता तथा वैयक्तिक एकाधिपत्य की असुविधाओं से इसे छुटकारा मिल जाता है। काम में सर्वसाधारण की भलाई की भावना एक वार जागृत हो जाने पर अधिकतर काम बिना वैयक्तिक पुरस्कार की आशा के ही होने लगता है। और प्रायः कुल समाज के रहन सहन की उन्नति के सब काम इसी विचार से ही किया जाने लगता है। यही साम्यवाद की

स्थापना का समय होता है। जबकि ऐसा वातावरण हो जाता है कि अधिकतर काम केवल सार्वजनिक भावनाओं की प्रेरणा से ही होने लगे। समाजवादी संगठन मे काम के लिये वेतन का प्रबन्ध रहते हुए भी, अधिकतर काम इन सार्वजनिक प्रेरणाओं से होता है।

काम में स्वार्थ

नवम्बर १६३५ ई० को प्रमुख रूसी कार्य्यकर्ताओं की एक कान्फ्रेन्स मे भाषण देते हुए स्टालिन (Stalin) ने कहा था कि पूँजीवादी संगठन मे काम करनेवालों को अपनी एक निजी स्थिति रहती है,। यदि वह अधिक काम करता है। उसे अधिक वेतन मिलता है। और वह जैसे चाहे रह सकता है। दूसरों को उसे जानने की न आवश्यकता ही है और न वे जानते ही हैं। वे पूँजीपतियों के लिये काम करते है और अपने काम से उन्हे ही धनी बनाते हैं। इसके अतिरिक्त और कोई काम उनका है नही। इसी के लिये वे नौकर रक्खे जाते हैं कि लुटेहरों को धनी बनावें। यदि वे ऐसा करने को सहमत नही होते तो निकाल दिए जाते हैं, और उनके स्थान पर दूसरे जो उनकी इच्छानुसार ही काम करते है रक्खे जाते है। फिर उन्हे बेकार होकर अपने जीवन निर्वाह के लिये किसी धन्धे की खोज करनी पड़ती है। और इसी कारण पूँजीवाद मे मनुष्यों के काम का अधिक मूल्य नही हता। रूस मे स्थिति दूसरी ही है। यहाँ मनुष्यों के काम का मान होता है वे पूंजीपतियो के लिये नही स्वयं अपने लिए, काम करता है अपने वर्ग तथा समाज के लिये करते हैं। इसमें मजदूर अपने को निकाला हुआ अपमानित नहीं समझता।

इसके विपरीत वह अपने को देश का एक स्वतन्त्र जीव मानता है, वह एक सार्वजनिक व्यक्ति होता है यदि वह अच्छी तरह काम करता है। और अपनी योग्यता और शक्ति भर समाज की सेवा करता है तो वह मजदूरों का नेता बनता है। उसकी प्रतिष्ठा होती है, सम्मान होता है। दूसरे व्याख्यान में

स्टैलिन ने बतलाया था कि मजदूरों को समाजवाद में किसप्रकार की सहायता देना चाहिए ताकि वे अपने को परित्यक्त और एकाकी न समझें। उनका कहना है कि मनुष्यों की देखरेख ऐसी सावधानी से होनी चाहिये जैसे कि एक माली फल देनेवाले वृक्षों की करता है। समाज का काम है कि वह उसे शिक्षा दे, बढ़ने में सहायक हो, उन्नति के अवसर प्रदान करे, समय से उसे उच्च पदवी दे, । अपने काम के लिये अयोग्य होने पर तुरन्त ही उसे उसके योग्य काम मे लगावे उसके असमर्थ हो जाने का अवसर ही न आने दें । उसे पूरी सतर्कता और सावधानी से मनुष्यों को बढ़ने, शिक्षा ग्रहण करने और उन्नति करने का प्रबन्ध कराना चाहिये इत्यादि .. ।

अन्त

संक्षेप मे, किसी भी आर्थिक संगठन में मनुष्यों से शक्ति भर काम लेने के लिए यह आवश्यक है कि उसमे भिन्न भिन्न प्रकृतियों के स्त्री पुरुषो के लिए उनके स्वभावों तथा समय के अनुसार ही प्रोत्साहन हों। मनुष्य भिन्न भिन्न प्रलोभनो से काम करते है। समय समय पर उनके भाव भिन्न भिन्न रहते है। कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने निजी स्वार्थ के संकीर्ण घेरे से बाहर निकलना ही नहीं चाहते। किसी दूसरे अवसर पर वे अपनी आदर्शवादिता के भावों मे संसार को ही आश्चर्य में डाल देते है।

भावों में भिन्नता के कारण, काम की संख्या और गुण के अनुसार जन समाज में आय के बाँटने का समाजवादी ढंग ही वर्तमान संसार के लिए अधिक उपयुक्त है। क्योंकि इसमे वेतन के साथ प्रयोग की भावना से काम कराने की प्रेरणा का भी संमिश्रण रहता है। सोवियट रूस में ऐसे समाजवादी प्रोत्साहन बड़े शक्तिशाली सिद्ध हुए हैं। और पिछले कुछ वर्षों मे हो उन्होंने संसार को जता दिया है कि उपज की उन्नति के लिए न तो लाभ की इच्छा का प्रोत्साहन ही अनिवार्य्य है और न पूँजीपति वर्ग का रहना ही। इन दोनों के विना,

वर्ग रहित समाज मे, वैयक्तिक भाग की इच्छा न होते हुए भी समाज की उपजाऊ शक्तियों की उन्नति केवल सम्भव ही नहीं वरन् निश्चित है।

अस्तु, समाजवादी संगठन को प्रयाप्त संख्या में काम करने वाले मनुष्यों के न मिल सकने अथवा अच्छा और परिश्रमी काम न हो सकने की आशंका का तनिक भी भय नहीं। उसके विपरीत, यही नही कि समाजवाद में पूँजीवाद के समान ही काम के लिये प्रोत्साहित करनेवाले प्रलोभन हैं। वरन् परन्तु उससे कहीं अधिक तथा शक्तिशाली प्रलोभन समाजवाद में होते हैं। जिनके द्वारा केवल उपज की उन्नति ही नही होती वरन् सम्पूर्ण समाज उपजाऊ शक्तियों, का पूरा २ प्रयोग पाकर, देशवासियों के जीवनों की आवश्यक सामग्रियों को प्राप्त कराके शान्ति वातावरण में सुखी और उन्नतिशाली रहता है।

इसीलिए तो समाजवाद की विशेष आवश्यकता है। क्योंकि इसके बिना समाज की उन्नति हो ही नहीं सकती।